निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक एक वेदांत विषयक ग्रंथ है। इसमें वेदांत के सिद्धांत का आश्रयण करके समस्त भ्रमात्मक धार्मिक बातों का निवारण किया गया है। और प्रत्येक विषय का निरूपण ऐसी पांडित्य-पूर्ण शैली से किया गया है कि पाठकों को 'गागर में सागर' की कहावत सत्य सिद्ध होगी। केवल इस एक ही ग्रंथ के पठन और मनन करने से वेदांत-संबंधी अत्यावश्यक विषयों का ज्ञान भलीभाँति हो सकता है।

पुस्तक की उपयोगिता का यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह इसका तृतीय संस्करण है, जो इस बात को सिद्ध करता है कि धार्मिक जगत् में धर्म के जिज्ञासुओं द्वारा इस पुस्तक का यथोचित आदर हुआ है।

पाठकों को आनंद होगा कि इस बार इस उपादेय ग्रंथ को एक नवीन शैली से संशोधन करके उनके कर-कमलों में अर्पित किया है। आशा है, वे इसका मान पहले से अधिक करेंगे।

प्रकाशन-विभाग
नवलकिशोर-प्रेस
लखनऊ

गोकर्णदत्त त्रिपाठी

भ्रम-नाशक
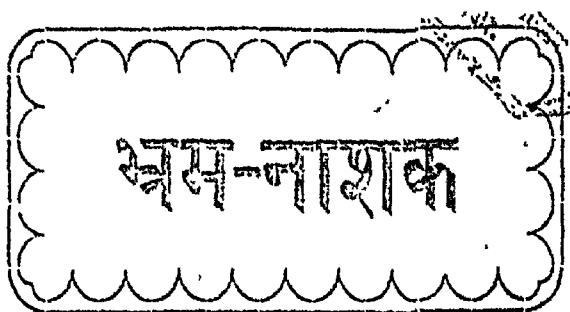
श्लोक

काशीं विश्वेश्वरं वंदे गंगां भागीरथीं तथा ।
सर्वान्साधूनहं वंदे पंडितांश्च विमत्सरान् ॥ १ ॥
अमरदासं गुरुं चैव सर्वतंत्रप्रवर्तकम् ।
यत्कृपालवमात्रेण विद्या शुद्धा समागता ॥ २ ॥
वादिनां भ्रमशीलानां मतिं धर्मेऽनुवर्तितुम् ।
कुर्वेऽहं परमानंदो भ्रमाणां तु विनाशकम् ॥ ३ ॥

दोहा

वर्णाश्रम जाती सकल कल्पित हैं जिहि माहिं ।
सो मैं परमानंद हूँ आदि अंत जिहि नाहिं ॥ १ ॥

कहूँ वेद-सिद्धांत में यथामती अनुसार।
जेहि अवलोकत ही मिटै सबै जगत-भ्रम-छार ॥ २ ॥
वेद अर्थ सिद्धांत का अब मैं करौं विचार।
भ्रम-नाशक अस नाम यहि धर्यों स्वमति अनुसार ॥ ३ ॥

प्रश्न—हे स्वामिन्! इस लोक में कोई कहते हैं कि उत्तम कुल में जन्म और उत्तम जाति की प्राप्ति करके ही स्वर्ग आदि की प्राप्ति और मुक्ति होती है; और कर्मयोगी कहते हैं कि कर्मों के अनुष्ठान करने से ही दोनों की प्राप्ति होती है; और कोई लोग कहते हैं कि आचार के करने से ही दोनों प्राप्त होते हैं; और कोई कर्म-सहित ज्ञान से मुक्ति मानते हैं; कोई उपासना से मुक्ति मानते हैं; कोई संन्यास धारण करने से ही मोक्ष मानते हैं; और जो इस संसार में अनेक मत फैले हुए हैं वे अपनी भिन्न-भिन्न कल्पना करते हैं। ऐसी हालत में जिसकी कल्पना मुक्ति के विषय में वेद-सम्मत हो, वह मुझसे कहिए। जिस एक के निश्चय करने से यह संसारी जीव संसार-रूपी बंधन से छूटकर नित्य सुख देनेवाले मोक्ष-पद को प्राप्त होवे।

उत्तर—हे शिष्य! केवल ज्ञान से मुक्ति होती है; और किसी प्रकार नहीं। और जितना वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार जाति आदि

का अभिमान है और कर्म आदि की उपासना है, वह सब बंधन का कारण है, यही वेद का सिद्धांत है।

प्रश्न—यदि वर्णाश्रम आदि धर्म और कर्म की उपासना बंधन का हेतु है, तब ईश्वर ने इनको क्यों बनाया ?

उत्तर—यदि ईश्वर वर्ण आदि के विभाग की कल्पना न करता, तो यह संसार भी न होता। क्योंकि अभिमान ही बंधन का हेतु है। वह तो किसी को होता नहीं तब कैसे संसार प्रवृत्त होता। और नामकरण तथा वर्णाश्रम आदि की कल्पना के बिना कोई भी व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। यदि पिता अपने पुत्र का कोई नाम न धरे तब कैसे कोई उसको पुकारे। और जो ईश्वर वर्णों के विभाग की कल्पना न करता, तब कैसे कोई एक दूसरे से पूछता कि तुम कौन हो और वह क्या उत्तर देता कि हम अमुक हैं। तब तो सबको मौन ही रहना पड़ता और संसार में कार्य भी कोई न करता। क्योंकि वेद में भिन्न-भिन्न वर्णाश्रमों के कर्म कहे हैं, जबकि वर्णाश्रम ही नहीं है तब उनके कर्मों का कर्ता कौन हो सकता है ? कोई नहीं हो सकता। और जबकि जाति आदि विभाग की कल्पना न होती, तब सब अपने को तुल्य ही जानते और फिर सेवा आदि जो निषिद्ध कर्म हैं, सो कैसे होते। और गुरु-शिष्य-व्यवहार भी न होता, और दान आदि का अधिकारी भी कोई न होता। तब संसार का व्यवहार कदापि न चल सकता।

इसलिये ईश्वर ने वर्ण आदि की कल्पना की है। जाति आदि के अभिमान के बिना अध्यास की सिद्धि भी नहीं होती, और अध्यास की सिद्धि के बिना बंधन की सिद्धि न होती, और बंधन की सिद्धि के बिना मोक्ष की भी सिद्धि न होती। जबकि प्रथम किसी को बंधन नहीं है तो मुक्त कैसे होगा? इन सबकी सिद्धि के लिये श्रुतियाँ प्रथम ब्रह्म में जगत् का आरोप करके बाद उस-का निषेध करती हैं। हे शिष्य! जगत् के व्यवहार की सिद्धि के लिये ही सब कल्पना है और यह नियम है कि जो कल्पित होता है वह सब मिथ्या होता है, चाहे जीव द्वारा कल्पित हो, चाहे ईश्वर द्वारा कल्पित हो। मुक्ति में और स्वर्ग की प्राप्ति में जाति आदिक कुछ उपकार नहीं कर सकते हैं। यदि उत्तम जाति की प्राप्ति होने से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती, तो स्वर्ग की प्राप्ति के लिये जो वेद में नाना प्रकार के यज्ञ आदि का विधान है और मोक्ष के लिये जो ज्ञान के साधनभूत श्रवण मनन आदि का विधान है वे सब व्यर्थ हो जाते। इसलिये इन जाति आदिकों का दोनों की प्राप्ति में कुछ उपयोग नहीं है; केवल व्यवहार की सिद्धि-मात्र ही इनका प्रयोजन है। जो अज्ञानी जीव हैं वही मिथ्या-भूत जाति आदि का अभिमान करके जन्म-मरण-रूपी संसार के चक्र में घूमते हैं और जो पुण्यात्मा विचारशील हैं, वे गुण को ही प्रधान मानते हैं। ऊपर से सब व्यवहार शास्त्रोक्त लोक-सम्मत

करते हैं। परंतु हृदय के अभिमान से रहित होकर ईश्वर का स्मरण करते हैं।

तुलसीदासजी ने भी कहा है—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन परिजन गुणगण चतुराई
भक्तिहीन नर सोहहि कैसा। बिनु जल वारिद देखिय जैसा

नीति में भी कहा है—

किं कुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम्।
दुष्कुलं चापि विदुषो देवैरपि सुपूज्यते॥
रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः।
विद्याहीना न शोभंते निर्गंधा इव किंशुकाः॥

जो पुरुष विद्या से विहीन हैं उनका उत्तम कुल में जन्म भी निष्फल है। और नीच कुलवाला भी विद्वान् देवताओं द्वारा पूज्य होता है। सुंदर रूप, युवा अवस्था, उत्तम कुल में उत्पत्ति होने पर भी यदि विद्या से हीन हुआ, तो शोभा को प्राप्त नहीं होता। जैसे गंध-हीन पलाश-पुष्प शोभा को प्राप्त नहीं होता।

इन नीति के वाक्यों से भी गुण की उत्तमता सिद्ध होती है, जाति आदि की नहीं। और भारत में भी गुण को ही प्रधान माना है—

न जातिकारणं तात गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

हे तात युधिष्ठिर ! जाति कल्याण का कारण नहीं है किंतु गुण ही कल्याण का कारण है । यदि चांडाल भी इंद्रियों के संयम-रूपी व्रत में स्थित होवे, तो उसे भी देवता लोग ब्राह्मण ही समझते हैं ।

भागवत के एकादश स्कंध में राजा ऋषभदेव की कथा प्रसिद्ध है । स्वायंभुव मनु के वंश में ऋषभदेव नामक बड़ा धर्मात्मा राजा था । उसके सौ पुत्र हुए । उनमें इक्यासी पुत्र कर्मों के द्वारा ब्राह्मण हो गए; शेष सब क्षत्रिय रहे । देखिए, यहाँ पर भी गुण की प्रधानता सिद्ध हुई, क्योंकि कर्म-रूपी गुण करके क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गए । यदि जाति का प्राधान्य होता, तो कर्मों के द्वारा ब्राह्मण न होते । विश्वामित्र तप करके क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए और शृंगीऋषि मृगी के उदर से उत्पन्न हुए । वे भी तप करके बड़ी पदवी को प्राप्त हुए । और वशिष्ठजी वेश्या के गर्भ से उत्पन्न होकर तप के प्रभाव से बड़ी पदवी को प्राप्त हुए । इसी से साबित होता है कि गुण ही मुख्य है, जाति आदि केवल व्यवहार की सिद्धि के लिये हैं ।

प्रश्न—यदि गुण ही प्रधान है, तो शास्त्रों में उत्तम जाति की बड़ाई क्यों की गई है ?

उत्तर—शास्त्रों में जो जाति आदि की बड़ाई की गई है, वह भी संसार की प्रवृत्ति के लिये है। वह अर्थ वाद-रूप है, यथार्थ नहीं है। क्योंकि यदि यथार्थ होती, तो शास्त्रों में उसकी निंदा न होती। उसकी निंदा अग्निपुराण में कही गई है—

न जातिर्न कुलं राजन् न स्वाध्यायः श्रुतं न च।
कारणानि द्विजत्वस्य व्रतमेव हि कारणम्॥

हे राजन्! जाति, कुल, वेदाध्ययन और शास्त्र का श्रवण यह सब द्विज-भाव के कारण नहीं हैं किंतु इंद्रियों का संयम-रूपी व्रत ही द्विज-भाव का कारण है।

किं कुलं व्रतहीनस्य करिष्यति दुरात्मनः।
कृमयः किं न जायंते कुसुमेषु सुगंधिषु॥

दुराचारी और व्रत-हीन पुरुष की सहायता उत्तम कुल क्या करेगा? क्या सुगंधवाले पुष्पों में कृमि नहीं उत्पन्न होते?

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः शूद्रादल्पतरः स्मृतः।
तस्माद्विद्धि महाराज व्रतं ब्राह्मणलक्षणम्॥

जो ब्राह्मण चारों वेदों को पढ़ा भी है परंतु जो खोटे मार्ग में प्रवृत्त है वह शूद्र से भी अधम है। इस कारण, हे राजन्! व्रत ही ब्राह्मण का लक्षण है। इत्यादि पुराण-वाक्य भी जाति

आदिकों की निंदा करके संयम-रूपी गुण को ही उत्तम कहते हैं। और यदि जाति से ही कल्याण होता, तो वेद में विधि और निषेध-वाक्य किसलिये कहे गए हैं।

अहरहः संध्यामुपासीत।

प्रतिदिन ब्राह्मण संध्योपासन करे, यह विधि-वाक्य है।

ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्।

ब्राह्मण मदिरा-पान न करे, यह निषेध-वाक्य है। और मनु ने भी कहा है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

जो द्विज प्रातःकाल की संध्या नहीं करता और सायंकाल की भी नहीं करता, वह संपूर्ण द्विज-कर्मों से बाहर करने योग्य है।

यथा षंढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥

जैसे नपुंसक पुरुष स्त्री पर निष्फल है, जैसे गौ गौ पर निष्फल है और जैसे मूर्ख के प्रति दान निष्फल है, वैसे वेद से हीन ब्राह्मण निष्फल है। यदि जाति करके ही कल्याण होता, तो वेद-शास्त्र ब्राह्मण के लिये प्रतिदिन संध्या का क्यों विधान

करते और संध्या-हीन को शूद्र क्यों बताते और विद्या-हीन के प्रति दान को निष्फल क्यों कहते, जाति तो उसमें उत्तम है ही। इसी से सिद्ध होता है कि गुण ही बड़ा है। मनुजी कहते हैं—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बंधुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥

बरसों करके, सफ़ेद बालों करके, धन करके, संबंधियों करके कोई बड़ा नहीं होता; किंतु जो हम लोगों में वेदाध्ययन करता है, वही बड़ा है। इस वाक्य में भी गुण का ही महत्त्व रक्खा है। यदि इन पूर्व वाक्यों के प्रमाण से भी तुम गुण को बड़ा नहीं मानोगे और हठ करके जाति को ही बड़ा मानोगे, तो हमारे प्रश्नों का उत्तर देओ। हम पूछते हैं, जाति किसका धर्म है? स्थूल शरीर का धर्म है किंवा आत्मा का धर्म है? या लिंग-शरीर का धर्म है या अंतःकरण की इंद्रियों का धर्म है? इनमें से स्थूल शरीर का धर्म तो हो नहीं सकता। क्योंकि यदि स्थूल शरीर का धर्म होवे, तो शरीर की उत्पत्ति-काल में ही द्विजत्व-भाव उस बालक में विद्यमान होता। किंतु

संस्कारेण द्विजो भवेत्।

संस्कार करके द्विज होता है, यह श्रुति व्यर्थ हो जायगी। और संस्कार कराना भी निष्फल हो जायगा, क्योंकि धर्म बिना धर्मी

के नहीं रह सकता। जिस काल में शरीर होगा उसी काल में जाति-रूपी धर्म भी साथ ही रहेगा। और जन्म-काल में श्रुति सबको शूद्र ही विधान करती है और संस्कार कराने से ही द्विज होता है। इसवास्ते स्थूल शरीर का धर्म जाति नहीं है। और जो द्विज किसी प्रकार से अपने धर्म से च्युत हो गया है अर्थात् म्लेच्छ हो गया है, अब उसको भी तुमको द्विज मानना पड़ेगा, क्योंकि द्विजत्व-जाति को तुमने स्थूल शरीर का धर्म माना है सो स्थूल शरीर उसका वही विद्यमान है। क्योंकि धर्मी के रहने से धर्म भी अवश्य रहेगा। अग्नि के रहने से उष्णता भी उसमें अवश्य रहेगी। अब उस म्लेच्छ को द्विज मानना होगा परंतु माना नहीं जाता, इसवास्ते स्थूल शरीर का धर्म जाति नहीं हो सकती। और यदि कहो उसमें द्विजत्व-जाति नष्ट हो गई है, इसवास्ते उसमें द्विजत्व-व्यवहार नहीं होता, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि जाति का नाश मानोगे, तो जाति तो तुम्हारे मत में एक ही थी। वह तो नष्ट हो गई, अब और द्विजों में भी द्विजत्व-व्यवहार न होना चाहिए। यदि कहो कि उस म्लेच्छ-शरीर को छोड़कर और द्विजों में वह जा रही है, यह कथन भी नहीं ठीक है। क्योंकि गमन-क्रिया सावयव पदार्थ में होती है, निरवयव में नहीं होती। जाति तो निरवयव है, उसका गमन नहीं होता, इसी हेतु से स्थूल शरीर का धर्म जाति नहीं हो सकती।

प्रश्न—नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। जो एक हो,

नित्य हो, विभु हो और अनेकों में रहे, उसको हम जाति मानते हैं। जैसे द्विजत्व एक है और नित्य भी है। संसार भर के द्विजातियों में व्यापक होकर रहता है, वही जाति है। जो द्विज मृत हो गया है या अपने धर्म से च्युत हो गया है, उसमें जाति का तिरोभाव हो जाता है। जो नवीन उत्पन्न हुआ है उसमें उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। किंतु जाति नष्ट नहीं होती। तिरोभाव छिप जाने को और प्रादुर्भाव प्रकट होने को कहते हैं। और वही जाति हमारे मत में पूज्य है। अर्थात् जो-जो उत्तम जाति हैं वे सब पूज्य हैं। गुण को हम पूज्य नहीं मानते। जो म्लेच्छ हो गया है, उसमें द्विजत्व-जाति का तिरोभाव और म्लेच्छत्व-जाति का प्रादुर्भाव हो गया है। इस-लिये उसमें द्विजत्व का व्यवहार नहीं होता।

उत्तर—जैसे अग्नि के विद्यमान होने से उष्णता-रूपी धर्म का तिरोभाव कदापि नहीं हो सकता, वैसे स्थूल शरीर-रूपी धर्मी के विद्यमान रहते हुए जाति-रूपी धर्म का तिरोभाव कभी नहीं हो सकता। इसी युक्ति से जाति का तिरोभाव ही प्रादुर्भाव नहीं हो सकता और जाति की व्यापकता भी नहीं होती। यदि द्विजत्व को व्यापक मानोगे, तो सब जीवों में द्विजत्व-व्यवहार होना चाहिए। क्योंकि व्यापक नाम उसी का है, जो सबमें पूर्ण होकर रहे। जैसे ईश्वर। ईश्वर से भिन्न वस्तु को व्यापकता नहीं है, यह तुम्हारा कथन श्रुति और स्मृति की युक्ति से विरुद्ध है। इसलिये

अप्रामाणिक है। संसार में लोगों ने अनेक जातियाँ मान रक्खी हैं, वे सर्वव्यापक माननी पड़ेंगी। जबकि एक ही जाति संसार में व्यापक हो जायगी, तो दूसरी जातियों को रहने का स्थान न मिलेगा। तब तो एक ही जाति का व्यवहार संसार में होगा, दूसरी जातियों का व्यवहार न होगा। यदि कहो कि एक द्विजत्व-जाति संसार के द्विजों में ही रहेगी दूसरे शूद्र पशु आदि में नहीं, तब तो जाति व्यापक सिद्ध न हुई। इसलिये जाति की व्यापकता सिद्ध न हुई। और जाति की नित्यता भी नहीं हुई, इसमें श्रुति का प्रमाण दिखाते हैं—

सदेव सौम्येदमग्र आसीत

हे सौम्य! जगत् की उत्पत्ति से पूर्व एक सद्रूप ब्रह्म ही हुआ और कोई द्वैत का प्रपंच न था।

वाचारंभणं विकारो नामधेयम्

नाम-रूप जितना कार्य है यह सब वाणी का कथनमात्र ही है।

अतोऽन्यदार्त्तम्

इस ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है, इत्यादि अनेक श्रुतियाँ ब्रह्म से भिन्न को मिथ्या प्रतिपादन करती हैं तब कैसे जाति नित्य हो सकती है, किंतु कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये यह जाति का लक्षण तुम्हारा सिद्ध नहीं होता। और जो तुमने कहा है कि जाति को हम पूज्य मानते हैं, वह भी तुम्हारा

कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यदि जाति को पूज्य मानोगे तब तुमको संसार के शूकर, कच्छ और मच्छ इनकी भी पूजा करनी पड़ेगी, क्योंकि शूकर का, मच्छ का, कच्छ का अवतार भगवान् ने लिया है। जो शूकरावतार में शूकरत्व-जाति थी वही सब शूकरों में है; जो कच्छ-अवतार के शरीर में कच्छत्व-जाति थी वही सब कछुओं में है, जो मच्छ-अवतार में मच्छत्व-जाति थी वही सब मच्छों में है, इसलिये सबकी पूजा करनी चाहिए। परंतु पूजते नहीं, इसलिये जाति पूज्य नहीं है किंतु गुण ही पूज्य है। जाति केवल व्यवहार की सिद्धि के लिये कल्पित है। और जाति का स्थूल शरीर के साथ कोई संबंध भी नहीं है, इसका सिद्धांतप्रकाश नामक ग्रंथ में खंडन भली भाँति किया गया है, उसी में देख लेना चाहिए। और भागवत के एकादश-स्कंध के दूसरे अध्याय में कहा है कि—

> न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
> सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥

जिस पुरुष के जन्म और कर्म के साथ और वर्णाश्रम जाति के साथ इस स्थूल देह में अहंकार द्वारा आसक्ति नहीं है वही पुरुष हरि का प्रिय भक्त है, अर्थात् जिसे अपने शरीर में जाति आदि का अभिमान है वह ठग है। यदि स्थूल देह के जाति आदिक धर्म

होते, तो यह वाक्य उनका निषेधक क्यों होता? इसी से जाना जाता है कि स्थूल देह के धर्म जाति आदिक नहीं हैं और आत्मा के धर्म भी जाति आदिक नहीं हो सकते हैं। इसको शंकरस्वामी ने सिद्धांतबिंदु में लिखा है कि—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा
न मे धारणा ध्यानयोगादयोऽपि।
अनात्माश्रयाहम्ममाध्यासहाना-
त्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥

वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—आचार—स्नान, शौच आदि—धर्म—ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा आदि—धारणा—वाह्य विषयों का त्याग करके मन की स्थिरता—ध्यानं परमात्मचिंतनम्—योग—चित्त की वृत्ति का निरोध आदि पद करके श्रवण-मनन आदि—अनात्मा अर्थात् अविद्या है उपादान कारण जिस अहंकार का, उसके आश्रित यह सब धर्म हैं। परंतु अध्यास के द्वारा मिथ्या मेरे में प्रतीत होते हैं। वास्तव में ये आत्मा के धर्म नहीं हैं। आत्मज्ञान करके अध्यास की निवृत्ति होने से एक ही द्वैत से रहित कल्याण-रूप मैं हूँ।

यह स्मृति आत्मा के धर्मों का निषेध करती है। तथा च श्रुतिः—

यदेतद्दृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रम्।

जो आत्मा अदृश्य ज्ञानेंद्रियों करके दृश्य नहीं, कर्मेंद्रियों द्वारा जिसका ग्रहण नहीं किया जाता और मूल कारण से रहित है, तथा वर्णाश्रम से भी रहित है, और वह आत्मा ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेंद्रियों से भी रहित है। यह श्रुति भी वर्णाश्रमादिकों को आत्मा के धर्म का निषेध करती है। इसलिये आत्मा के धर्म जाति आदि नहीं हो सकते। और युक्ति से भी आत्मा के धर्म नहीं हो सकते। सो दिखाते हैं। जो पूर्व जन्म में शूद्र था परंतु शुभ कर्म के द्वारा दूसरे जन्म में ब्राह्मण हुआ। अब उसमें शूद्रत्व जाति भी माननी चाहिए, क्योंकि जाति को तुमने आत्मा का धर्म माना है। आत्मा तो पूर्व शूद्रत्व जातिवाला ही है अथवा कुकर्म करने से ब्राह्मण को शूद्र का शरीर मिला, अब उसमें भी ब्राह्मणत्व जाति माननी चाहिए, क्योंकि आत्मा तो वही पूर्व जातिवाला है और ऐसा नहीं माना जाता, इसवास्ते आत्मा के धर्म जाति आदि नहीं हो सकते।

प्रश्न—सृष्टि के आदि काल में ईश्वर ने अनंत जीवों को भिन्न-भिन्न उत्पन्न किया और भिन्न-भिन्न उनके धर्म कल्पना किए तथा ब्राह्मणत्व जातिवाला ब्राह्मण का आत्मा रचा और क्षत्रियत्व जातिवाला क्षत्रिय का, वैश्यत्व जातिवाला वैश्य का, शूद्रत्व जाति-

वाला शूद्र का, इसी तरह पशुत्व जातिवाला पशुओं का, पक्षित्व जातिवाला पक्षियों का रचा। उनमें जो ब्राह्मणत्व जातिवाला है उसी को ब्राह्मणशरीर की प्राप्ति होती है, जो क्षत्रियत्व जातिवाला है उसको क्षत्रियशरीर की प्राप्ति होती है, अन्य जातिवाले को अन्य शरीर की प्राप्ति होती नहीं, किंतु प्रत्येक आत्मा का एक बार जन्म होता है। यदि पुनर्जन्म मानें तब दोष हो। हम पुनर्जन्म मानते नहीं, इसवास्ते कोई दोष नहीं आता है?

उत्तर—जो तुमने जीवों की उत्पत्ति की कल्पना की है, वह शास्त्र और अनुभव से विरुद्ध है क्योंकि जो उत्पत्तिवाला होता है वह नाश भी अवश्य होता है। तब तो जीव का नाश भी तुमको मानना पड़ेगा और स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति उसको होगी। और जो जीव का पुनर्जन्म नहीं मानोगे, तो अकृताभ्यागम दोष आवेगे अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व तो यह जीव था ही नहीं। जो होता तो कर्म करता। कोई कर्म इसने किया नहीं है, तब बिना ही किए फल की प्राप्ति और जो इस जन्म में कर्म किए हैं उनका नाश भी होगा क्योंकि पुनर्जन्म तो इसका होना ही नहीं। वह सब कर्म बिना फल दिए ही नष्ट हो जावेंगे। और ईश्वर को भी दोष आवेगा कि किसी को उत्तम जातिवाले धनियों के घर में उत्पन्न किया और किसी को नीच जातिवालों के घर में उत्पन्न किया; किसी को अतिसुखी बनाया और किसी को अतिदुःखी बनाया।

जिसको सुखी बनाया उसने ईश्वर पर कौन उपकार किया था और जिसको दुःखी बनाया उसने ईश्वर का क्या बिगाड़ा था। उत्पत्ति से पूर्व तो वे दोनों नहीं हैं। और पूर्व तथा उत्तर जन्म तुमने माने नहीं, तब तो इन दोषों का वारण किसी तरह से भी न होगा। इसलिये जीवों की उत्पत्ति नहीं सिद्ध होती। इससे इन को अनादि मानो और जाति आदि को कल्पित मानो। आत्मा के धर्म कदापि नहीं हो सकते हैं। और श्रुतियों में ब्रह्म का ही जीव-रूप करके प्रवेश सुना है।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

ईश्वर लिंग शरीरों को उत्पन्न करके आप ही उनमें जीवरूप होकर प्रवेश करता है अर्थात् उनमें चिदाभास को फेंकता है। और अथर्वण वेद के ब्रह्मसूक्त में भी कहा है।

ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेव मे कितवः।

ब्रह्म ही दाश (मल्लाह) है, ब्रह्म ही दास (टहलुआ) है, और ब्रह्म ही कितव अर्थात् द्यूतकर्म करनेवाला है। यह वेद एक ही ब्रह्मरूप आत्मा को सर्वरूपता कहता है। अन्यच्च श्रुतिः—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखा इति।

हे ईश्वर ! तुमहीं स्त्रीरूप हो, तुमहीं पुरुषरूप हो, तुमहीं कुमार और बालकरूप हो, तुमहीं कुमारीरूप हो, तुमहीं वृद्धरूप होकर दंड करके गमन करते हो, तुमहीं विराट् रूप होकर उत्पन्न होते हो, यह वाक्य भी एक ही आत्मा की सर्वरूपता कथन करता है और आत्मा के भेद का निषेध करता है। तब एक ही आत्मा की नाना जाति कैसे बन सकती है? कदापि नहीं बनती। और अभेददर्शी को ही भगवान् ने गीता में उत्तम भक्त कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ १॥

हे अर्जुन ! जो मेरे को ही सर्वत्र देखता है और संपूर्ण जगत् को मुझमें देखता है, उस पुरुष को मैं अदृश्य कदापि नहीं होता हूँ। और वह मुझको अदृश्य नहीं होता अर्थात् वह मेरा उत्तम भक्त है। भेदवादी की वेद ने निंदा भी की है। यथा—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रंतं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो क्षत्रं वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो सर्वं वेद।

कल्पित ब्राह्मणत्व जाति उस पुरुष का तिरस्कार करती है जो अपने से भिन्न ब्रह्म को जानता है, क्षत्रियत्व जाति भी उसका

तिरस्कार करती है जो अपने से भिन्न ब्रह्म को जानता है, सर्वभूत उसका तिरस्कार करते हैं जो अपने से भिन्न ब्रह्म को जानता है। इन श्रुतियों करके और पूर्वोक्त स्मृति युक्तियों करके आत्मा का धर्म जाति आदि किंचित् भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त दोष है। यथा, जाति को तुमने पूज्य और आत्मा का धर्म माना है वह दूसरे के आत्मा का तो किसी भी इंद्रिय करके प्रत्यक्ष नहीं होता जो उसकी पूजा होवे। शरीर का धर्म जाति तुमने मानी नहीं और संसार में शरीर की ही पूजा होती है परंतु अब न हुई क्योंकि शरीर का धर्म जाति है नहीं, यह दोष भी आवेगा।

प्रश्न—जाति को केवल आत्मा का धर्म भी नहीं मानेंगे और केवल शरीर का धर्म भी नहीं मानेंगे किंतु शरीरविशिष्ट आत्मा का धर्म मानेंगे, इसमें कोई दोष नहीं आवेगा, किंतु शरीर की भी पूजा सिद्ध हो जावेगी?

उत्तर—शरीरविशिष्ट आत्मा का धर्म भी जाति नहीं बनती। क्योंकि अनादि काल का यह जीव है अनंत जन्म मनुष्य, पशु और पक्षी आदिकों के इसने धारण किए और अनंत जन्मों में अनंत शरीरों के साथ इसकी विशिष्टता हुई है अर्थात् संयोग हुआ है तब कौन से शरीर करके विशिष्ट का धर्म मानोगे? यदि कहो कि पूर्व जन्मों के शरीर नष्ट हो गए हैं, उनके द्वारा विशिष्ट का धर्म नहीं मानेंगे किंतु जो वर्तमान शरीर है उसी करके विशिष्ट का धर्म मानेंगे,

तव तो जाति अनित्य हो जावेगी। क्योंकि जब शरीर उत्पन्न हुआ, तब जाति भी उसके साथ उत्पन्न होकर विशिष्ट हुई। जब शरीर का नाश हुआ, तब जाति भी साथ ही नष्ट हुई। तब शरीर का ही धर्म जाति आदिक सिद्ध हुए; विशिष्ट मानना तुम्हारा व्यर्थ हुआ। और शरीर का धर्म होने में वही पूर्ववाले दोष आकर प्राप्त होवेंगे, इसवास्ते शरीर करके विशिष्ट आत्मा का धर्म-जाति सिद्ध न हुई। और अंतःकरण-इंद्रियों का धर्म भी जाति नहीं हो सकती। क्योंकि तुमने जाति को पूज्य कहा है और अंतःकरणादिकों की पूजा कहीं होती नहीं, क्योंकि वह पर के प्रति प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। और यह तुम्हारा मानना वेदशास्त्रविरुद्ध होने से अप्रामाणिक भी है। और इंद्रियों का धर्म तो जाति किसी तरह से नहीं हो सकती—क्योंकि इंद्रिय बहुत हैं, कौन इंद्रिय का धर्म कहोगे, उनमें से किसी एक इंद्रिय का धर्म तो बनता नहीं, क्योंकि यदि आप चक्षु का धर्म कहोगे, तब हम कहेंगे कि श्रोत्र का क्यों न हो। जो आप श्रोत्र का कहोगे, तब हम कहेंगे घ्राण का क्यों न हो। इसमें प्रमाण तो है नहीं कि जिसको तुम कहो उसीका हो जावे। यदि सब इंद्रियों का धर्म कहोगे, तब जिसकी कोई एक इंद्रिय नष्ट है जैसे काना, बहिरा, अंधा, अब वहाँ पर जाति के एक देश का नाश हो जायगा, तब अर्थ से ही जाति अनित्य हो जायगी और पूर्वोक्त दोष भी आवेंगे, इसवास्ते यह सब तुम्हारी झूठी कल्पना है। इसी तरह लिंग-

शरीर का धर्म भी जाति आदि नहीं बनते, क्योंकि सब योनियों में लिंगशरीर का आत्मा के साथ गमन होता है। तब सब योनियों में वह एक ही जाति रहेगी, जिस जाति को तुम लिंग-शरीर का धर्म मानोगे; किंतु लोकशास्त्र से विरुद्ध होने में, ऐसा तो होता नहीं और पूर्वोक्त दोष भी आवेंगे। इसवास्ते आप वृथा कल्पना को त्यागकर कल्पित जाति आदिकों को केवल व्यव-हार की सिद्धि के लिये मानो।

प्रश्न—जो जिसके वीर्य से उत्पन्न होता है, उसीमें वह जाति आदिक रहते हैं, ऐसा मानने में कोई दोष नहीं ?

उत्तर—यह तुम्हारा कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि वीर्य से तो शरीर की उत्पत्ति होती है। तब पूर्वोक्त दोष आवेंगे अर्थात् संस्का-रादिकों को व्यर्थतारूप दोष और शरीर का ही धर्म जाति आदिक सिद्ध होवेंगे। यह सब हम पूर्व ही खंडन कर आए हैं। और शरीर की उत्पत्ति माता पिता दोनों के वीर्य से होती है, केवल एक से तो होती नहीं, तब वसिष्ठादिकों में दोष आवेगा क्योंकि उनकी माता तो ब्राह्मणी न थी। अब वहाँ जाति को संकर मानना पड़ेगा, क्योंकि माता की जाति भिन्न है पिता की भिन्न जाति है। दोनों के वीर्य से जो उत्पन्न हुए हैं उनमें एक जाति कैसे मानी जावेगी। यदि कहो कि पिता के वीर्य को प्रधान मानेंगे, वही पिता की जाति पुत्र में रहेगी, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि स्मृति ने ऐसा कहा है—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे।
कुले च कामिन्यधीने जातेः किं परिकल्पनम् ॥ १ ॥

अर्थ—अनादि काल का यह संसार है और मकरध्वज जो कामदेव है उसका वेग किसी करके हटाया नहीं जाता है और जितने कुल हैं वह सब स्त्रियों के अधीन हैं, तब जाति की क्या कल्पना करनी कि यह उत्तम है यह मध्यम है क्योंकि स्त्रियों के व्यभिचार को कोई पुरुष जानता नहीं और ऐसा संसार में कोई भी कुल नहीं है जिसमें कि व्यभिचार न हुआ हो, और वीर्य का निश्चय होना भी कठिन है जो यह अमुक का वीर्य है। इसवास्ते वीर्य करके भी जाति की सिद्धि नहीं हो सकती। और जो सारे जगत् के कर्ता ब्रह्माजी उनकी कमल से उत्पत्ति लिखी है। अब उनमें कैसे वीर्य से जाति की उत्पत्ति मानी जावेगी? क्योंकि वीर्य से तो है नहीं। और फिर ब्रह्माजी के शरीर के दो भाग हो गए। एक भाग से मनुजी हुए, दूसरे से शतरूपा हुई। उन दोनों का परस्पर विवाह हुआ और ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न होकर मनु क्षत्रिय क्यों हुए? और उसी मनु से सर्व मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। तब फिर उनमें भिन्न-भिन्न जाति आदि की कल्पना क्यों हुई? क्योंकि कारण तो एक ही है। उसका जो धर्म है, वही औरों में भी होना चाहिए। यदि भिन्न-भिन्न कर्मों के करने से

भिन्न-भिन्न जाति मानोगे, तब कर्म को ही प्रधानता सिद्ध हुई। कर्म ही पूज्य हुआ, जाति पूज्य न हुई। तब हमारा सिद्धांत प्राप्त हुआ और गुण ही बड़ा हुआ; जाति की प्रधानता न हुई। और सर्व वेदशास्त्र का यही सिद्धांत है और व्याध, ध्रुव, गजेंद्र, विदुर, कुब्जा, सुदामा, भीलनी, जटायु आदिक और सुग्रीव हनुमान् अंगद आदिक पूर्व युगों में ये सब परमेश्वर की भक्तिरूप उत्तम गुण करके श्रेष्ठ गति को प्राप्त हुए; जाति करके नहीं हुए हैं। और अब कलि में भी कबीरदास दूजे सदना, रैदास आदिक अनेक भक्त परमेश्वर में प्रेम करके ही ईश्वर को प्राप्त हुए हैं। और इस समय में भी जहाँ तहाँ गुण की ही प्रधानता देखने में आती है। इन पूर्वोक्त युक्तियों करके भी यह सिद्ध हुआ कि जो जाति आदि केवल व्यवहार की सिद्धि के वास्ते ईश्वर ने और जीवों ने कल्पना किए हैं, परमार्थ में इनका कुछ उपयोग नहीं। और चार वर्ण, चार आश्रम, कर्मउपासना आदि जो हैं, वे सब जीवों के कल्याण के निमित्त और जगत् के व्यवहार के अर्थ ईश्वर ने कल्पना किए हैं। और एक-एक वर्ण में अनेक जातियाँ व्यवहार के अर्थ जीवों ने कल्पना की हैं। कल्पित होने से दोनों मिथ्या हैं।

प्रश्न—यदि जाति आदिक कोई भी सत्य नहीं है तब सब कोई सब किसी के हाथ का क्यों नहीं खाते ?

उत्तर—सब किसी को सबके हाथ से भोजन न करने का नाम ही तो व्यवहार है। यदि सब कोई, सब किसी का भोजन करेगा और सब किसी के यहाँ विवाहादि करेगा, तब तो धर्म का लोप हो जावेगा। और शास्त्रोक्त व्यवहार भी नष्ट हो जावेगा। जिसमें धर्म का लोप न हो, शास्त्रीय व्यवहार बना रहे, इसवास्ते शास्त्रोक्त व्यवहार को उल्लंघन नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो मुमुक्षु पुरुष संसाररूपी समुद्र से तरने की इच्छावाला है उसको ऐसा करना उचित है। जो मिथ्या जाति आदिक हैं इनमें मन करके अध्यास को त्याग कर देना और इनसे अपनी कल्याण की इच्छा नहीं करनी, किंतु शास्त्रोक्त गुणों को धारण करना ही उसको उचित है। और अध्यासी जीव ही जन्ममरणरूपी संसार को प्राप्त होते हैं। इसको योगवाशिष्ठ में भी कहा है—

अहोऽनुचित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम्।
यदसत्यमविद्याख्यं तत्पुरः परिवल्गति॥

हे राम! बड़ा आश्चर्य है जो सद्रूप ब्रह्म है वह तो पुरुषों को विस्मरण हो रहा है और जो असत्रूप अविद्या के कार्य जाति आदिक हैं वही जीवों को स्फुरण हो रहे हैं। और शकुंतला के वाक्य को भी भाष्यकारों ने इसी में प्रमाण दिया है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।

किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

जो पुरुष आप ब्रह्मरूप होकर अपने को अन्यथा नाम जाति आदिकों वाला मानता है उस पुरुष ने क्या पाप नहीं किया? किंतु उसने सर्व पाप कर लिए हैं। क्योंकि वह आत्मा का चुरानेवाला है। और गीता में भगवान् ने भी कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

हे अर्जुन! संपूर्ण जाति आदिक धर्मों का त्याग करके मुझ परमेश्वर की शरण को प्राप्त हो।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
श्वनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

अर्थ विद्या और नम्रता करके युक्त ब्राह्मण में, गौ में, हस्ती में, कूकुर में और चांडाल में जो एक ही आत्मा को देखता है वही पंडित है। जो परमार्थ से जाति बड़ी होती, तब भगवान् ऊँच नीच की तुल्यता क्यों करते?

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिंतकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥

महाभारत ।

जितने शास्त्र के पठन करनेवाले हैं और पढ़ानेवाले हैं शास्त्रोक्त

वैराग्य आदि साधनों के अनुष्ठान के विना वे सब व्यसनों और मूर्ख हैं और जो शास्त्रोक्त वैराग्य आदि साधनों के अनुष्ठानवाला है, वही पंडित है।

वर्णाश्रमवयोवस्थाऽभिमानो यस्य विद्यते।
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि॥

पंचदशी।

जिस पुरुष को वर्णाश्रम आयु युवावस्था और जाति आदिकों का अभिमान विद्यमान है उसी पुरुष का संपूर्ण विधिनिषेध में अधिकार है। अर्थात् जिसको वर्णाश्रम आदिकों का अभिमान नहीं है उसको विधिनिषेध भी कोई नहीं है।

रागो लिंगमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्य मूलेऽग्नि कस्तरोः॥

चित्त की विस्तृत भूमियों में अज्ञान का चिह्न राग ही है जिस वृक्ष के मूल में अग्नि लगी हो उस वृक्ष को हराई कदापि नहीं हो सकती। वैसे ही जिस पुरुष का वर्णाश्रमादिकों में राग है उसका चित्त कदापि शांति को नहीं प्राप्त होता। वह रागरूपी अग्नि करके जलता ही रहता है। पूर्वोक्त श्रुतियुक्ति और स्मृति के प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि जो उत्तम कुल में जन्म और उत्तम जाति की प्राप्ति करके स्वर्ग मोक्ष दोनों की प्राप्ति नहीं होती है, किंतु

यज्ञादि कर्मों करके स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है और ज्ञान करके मोक्ष की प्राप्ति होती है । और जो तुमने कहा था कि कर्मी कहते हैं कि कर्मों करके उभय की प्राप्ति होती है, सो उनका कथन असंगत है । वेद ने कर्मों करके केवल स्वर्गादिकों की प्राप्ति कही है, मोक्ष कर्मों करके नहीं कही । किंतु ज्ञान करके ही मुक्ति कही है । ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती है, ऐसा श्रुति ने नियम कर दिया है ।

प्रश्न—कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

कर्मों करके ही जनकादिक मोक्ष को प्राप्त हुए, यदि कर्मों करके मुक्ति नहीं मानोगे तब इस गीतावाक्य के साथ विरोध आवेगा ।

उत्तर—गीतावाक्य में संसिद्धि पद का अर्थ ज्ञान है । यदि ज्ञान-अर्थ को त्यागकर मोक्ष-अर्थ करोगे—तब अनेक श्रुतियों के साथ विरोध आवेगा । सो दिखाते हैं ।

कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते ।

कर्मों करके चित्त के मल जब पक्क हो जाते हैं पश्चात् ज्ञान की प्रवृत्ति होती है । इस वाक्य से ही सिद्ध होता है कि कर्मों को जो अंतःकरण की शुद्धि में कारणता है मुक्ति में कर्मों का कुछ उपयोग नहीं है, यदि मुक्ति में भी उपयोग होता तब भगवान् गीता में ही कर्मों की निंदा क्यों करते ?

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

गीता ।

अविपश्चित् जो अज्ञानी जीव हैं वह इस कर्मकांडरूपी पुष्पित वाणी को कथन करते हैं । कैसी वाणी है जन्म-कर्म-फल को देनेवाली है और भोग ऐश्वर्य की प्राप्ति में क्रियाविशेष है बहुलता करके जिसमें और भोग ऐश्वर्य में प्रसक्त हैं चित्त जिनके, उनके चित्त उस वाणी करके हरे गए हैं । फिर वह कैसे हैं कि वेद में जो अर्थवादरूप कर्मकांड है, उसी में प्रीतिवाले हैं । इस कर्मकांड से अतिरिक्त ज्ञानकांड नहीं है, ऐसा जो कथन करते हैं और कामना करके व्याकुल चित्त जो हैं, स्वर्ग की प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं, उन कर्मियों की आत्मा में निश्चयात्मक बुद्धि कदापि नहीं होती, किंतु कर्मरूपी चक्र करके संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं । तथाच श्रुतिः—

न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागे नैकेन
अमृतत्वमानशुः।

कर्मों करके, संतान करके, धन करके मोक्ष नहीं प्राप्त होती किंतु एक त्याग करके ही मुक्ति होती है।

तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय।

आत्मज्ञान करके ही मृत्यु को अतिक्रमण कर जाता है मोक्ष के वास्ते ज्ञान से अति कर्मादिक कोई भी मार्ग नहीं है, इत्यादि अनेक श्रुतियों से मोक्ष का निषेध करके ज्ञान करके ही मोक्ष का प्रतिपादन करती हैं, इसलिये कर्मियों का संग भी मुमुक्षुओं को त्याग करने योग्य है। पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतियुक्ति प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि जो कर्मों करके मोक्ष कदापि नहीं होता और जो कहते हैं कि आचार करके मोक्ष होता है, उनका कथन भी असंगत है, क्योंकि आचार का फल योगशास्त्र में शरीरादिकों में ग्लानि कही है। और वैद्यकवालों ने शरीर की शुद्धि कही है और पुराणों में आचार का फल अंतःकरण की शुद्धि कही है। मोक्ष-रूपी फल किसी शास्त्रकार ने नहीं कहा और आचार वही सम्मत है जितने में मन की ग्लानि दूर होवे। और जो अत्यंत आचार है, जैसे लकड़ियों को भी जल से धोकर जलाना और उत्तम जो साधु ब्राह्मण उनसे भी स्पर्श नहीं करना, उनको अपने पात्र में

भोजन नहीं कराना और उत्तम जातिवालों के भी सन्मुख भोजन नहीं करना, यह सब आचार नहीं है किंतु यह अत्याचार है। मंदभागों को ऐसे आचारवालों का संग होता है। प्रथम तो उनको व्यवहार में ही सदा कष्ट बना रहता है क्योंकि आचार करते ही उनके हृदय नष्ट हो गए हैं, तब उनको विचार कैसे होगा। और बिना विचार के कहीं भी सुख नहीं है, इसवास्ते विचार ही करना उचित है। और शास्त्रदृष्टि से विचार करके देखिए तो जगत् की उत्पत्ति में दो कारण हैं, एक चेतन आत्मा, दूसरी जड़ माया। दोनों में से आत्मा तो नित्य ही शुद्ध है और माया सर्वदा अशुद्ध है। और ऐसा नियम है कि जो जिसका स्वभाव है वह अन्यथा कदापि नहीं होता। तब अशुद्ध स्वभाववाली जो माया, उसका कार्य यह जगत् कैसे शुद्ध होगा? किंतु कदापि नहीं हो सकता। जितने जीव हैं, उन्होंने अपनी-अपनी कल्पना कर रक्खी है। जो मांस के भक्षण करनेवाले हैं उन्होंने उसका नाम शुद्धि रख दिया है, जो नहीं भक्षण करते हैं उन्होंने उसका नाम अशुद्धि धर दिया है। जो मदिरा के पान करनेवाले हैं, उन्होंने उसका नाम अमृत रक्खा है; जो नहीं पान करते हैं, उन्होंने उसका नाम पेशाब रक्खा है। और दोनों अपने-अपने मत में प्रमाण भी शास्त्रों के देते हैं। इसी तरह और भी बहुत से पदार्थ हैं जिनमें शुद्धि अशुद्धि की कल्पना होती है, परंतु इसका निर्णय होना अति कठिन

है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा से अतिरिक्त जितना प्रपंच है, सब अनिर्वचनीय है। आत्मा के अज्ञान करके ही भासता है और जगत् में शुद्धि-अशुद्धि भी सब कल्पनामात्र है। विचार-दृष्टि से देखिए तो आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं, केवल आत्मा ही सत्य है। और जो लोग अति आचार करके पदार्थों में शुद्धि की कल्पना करते हैं, उनसे हम पूछते हैं कि कारण की शुद्धि और अशुद्धि दोनों ही कार्य में आती हैं अथवा कार्य में अपने आप से ही शुद्धि-अशुद्धि उत्पन्न होती है। यदि कहो कि कारण की शुद्धि या अशुद्धि कार्य में भी आती है अर्थात् जो शुद्ध कारण होता है उसका कार्य भी शुद्ध होता है, जो अशुद्ध कारण होता है उसका कार्य भी अशुद्ध होता है, ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं होता है। क्योंकि मदिरा के कारण जो गुड़ादिक, उनको सब कोई शुद्ध मानते हैं और गुड़ादिकों का कार्य जो मदिरा उसको सब कोई शुद्ध नहीं मानते और अति आचार करनेवाले भी गुड़ को भक्षण करते हैं; परंतु मदिरा को नहीं ग्रहण करते, और उसको अशुद्ध मानते हैं। इस युक्ति से यह सिद्ध होता है कि कारण की शुद्धि कार्य में नहीं आती। और यह भी नियम नहीं कि अशुद्ध कारण से अशुद्ध ही कार्य उत्पन्न हो, क्योंकि अजा आदिकों के रोमों की धूलि पड़ने से स्नान करना कहा है और कृमियों की विष्ठा के स्पर्श होने से स्नान करना कहा है और उन्हीं अजा

आदिकों के अपवित्र रोमों का कार्य जो कंवल आदिक और कृमियों के विष्ठा का कार्य जो पीतांवरादिक उनको सब कोई शुद्ध मानते हैं। और शास्त्रों में भी उनको शुद्ध लिखा है। इस युक्ति से यह सिद्ध होता है कि कारण की अशुद्धि भी कार्य में नहीं आती। यदि प्रथम पक्ष को ग्रहण करोगे अर्थात् जो अशुद्ध कारण होता है, उसका कार्य भी अशुद्ध है, तब तो सब आचार करना व्यर्थ हुआ, क्योंकि जिस वीर्य की विंदु के स्पर्श हो जाने से सचैल स्नान करना पड़ता है, उसी वीर्य का कार्य जो यह स्थूलशरीर वह कैसे शुद्ध होगा? किंतु कदापि नहीं होगा। जब शरीर आचार से शुद्ध न हुआ, तब तो अर्थ से आचार व्यर्थ हुआ और एक पाखंड सिद्ध हुआ। सो पाखंड पाप का बीज है। उसका त्याग ही करना उचित है। और भारत में कहा है—

अमेध्यपूर्णे कृमिराशिसंकुले स्वभावदुर्गंधितमेऽलमध्रुवे।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाजने रमंति मूढा विरमंति पंडिताः॥

यह शरीर कैसा है अपवित्र मल मूत्र रुधिर मांसादि करके भरा हुआ है, और कृमियों के समूहों करके व्याकुल है, और दुर्गंधि करके युक्त है, अनित्य है, मल मूत्र का एक भाजन है, ऐसे अपवित्र शरीर में, अज्ञानी जीव स्नेह करते हैं और आचार करके उसकी शुद्धि करना चाहते हैं। और जो विवेकी हैं वह इससे वैराग्य को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—कारण की शुद्धि कार्य में नहीं आती, किंतु अन्य पदार्थों के साथ संबंध होने से कार्य में शुद्धि अशुद्धि प्राप्त होती है।

उत्तर—संबंध करके भी शुद्धि अशुद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि जिस काल में शुद्ध पदार्थ का अशुद्ध पदार्थ के साथ संबंध होगा उस काल में वह अशुद्ध पदार्थ शुद्ध को भी अशुद्ध कर देगा। जैसे अपवित्र पात्र गंगाजल को भी अपवित्र कर देता है, फिर वह शुद्ध कैसे होगा? यदि कहो अपने करके आप ही होगा, तब प्रथम ही अपने करके आप ही शुद्ध हो जायेगा, संबंध मानना व्यर्थ हुआ। यदि कहो दूसरे करके होगा, तब वह दूसरा किस करके होगा? यदि कहो दूसरा प्रथम करके होगा, तब अन्योन्याश्रय दोष आवेगा। दूसरा शुद्ध हो ले तब वह प्रथम को शुद्ध करे। जब प्रथम पहले शुद्ध हो ले। तब वह दूसरे को शुद्ध करे। यह अन्योन्याश्रय दोष है। यदि तीसरे करके मानोगे, तब चक्रका, और चतुर्थ करके मानोगे तो अनवस्था दोष आवेगा। और दोष जब कि शुद्ध का अशुद्ध के साथ संबंध होगा उसी काल में अशुद्ध को भी वह शुद्ध कर लेगा। क्योंकि जैसे अशुद्ध का स्वभाव है कि शुद्ध को अशुद्ध कर देना, वैसे शुद्ध का भी स्वभाव है कि अशुद्ध को शुद्ध कर देना। तब तो अपवित्र पात्र में जो गंगाजल है वह उस पात्र को भी शुद्ध कर लेगा। जैसे वर्षाऋतु में संपूर्ण देशों का मल गंगाजी में वहकर जाता है और वह गंगाजल शुद्ध कर लेता है और उसीको

आप शुद्ध मानते हैं। संबंध करके अब उस पात्र के जल को भी शुद्ध मानना पड़ेगा। और इस जगत् में जितने पदार्थ हैं सबका परस्पर संबंध है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसका दूसरे किसी पदार्थ के साथ साक्षात् या परंपरासंबंध न हो। अब तुमको संसार भर के पदार्थों को शुद्ध ही मानना पड़ेगा या सबको अशुद्ध ही मानना पड़ेगा। यदि सबको शुद्ध ही मानोगे, तब तो आचार व्यर्थ हुआ, क्योंकि आचार तो अशुद्ध को शुद्ध करने के वास्ते था, सो तो है ही नहीं। यदि सब पदार्थों को अशुद्ध मानोगे, तब भी आचार व्यर्थ है क्योंकि शुद्ध करनेवाला कोई नहीं रहा। यदि कहो जल अग्नि और पवन इनके संबंध करके शुद्धि मानेंगे, सो भी नहीं बनता। क्योंकि यह सब माया के कार्य हैं; इनका कारण ही शुद्ध नहीं तब यह कैसे शुद्ध होवेंगे। और इनमें शुद्धि कहां से आई? यदि कहो स्वरूप से ही शुद्ध हैं, तब अपवित्र स्थान में जो जलादि प्राप्त हैं, उनको भी शुद्ध मानो। जो उनको संबंध करके अपवित्र मानोगे, तब पूर्व कहे जो दोष हैं वही फिर प्राप्त होवेंगे। इस वास्ते यह सब तुम्हारा कथन असंगत है।

प्रश्न—हम दो प्रकार के पदार्थ मानते हैं—एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। नदी तड़ाग कूपादिकों के जल को शुद्ध मानते हैं और भस्म मृत्तिका को शुद्ध मानते हैं; परंतु जब तक पात्र में जूँठा लगा है तब तक उसमें अशुद्धि है, जब भस्म मृत्तिका आदि

से जूँठा दूर कर दिया जाता है, तब वह शुद्ध हो जाता है।

उत्तर—यह भी कल्पनामात्र ही है। जब कि अपने जूँठा छुड़ाने से पात्र शुद्ध हो जाता है तब वह दूसरे के जूँठा छुड़ाने से क्यों नहीं शुद्ध होगा ? किंतु अवश्य होगा। तब पाखंड क्यों करना ? जो अपना पात्र अन्य को नहीं देना और जितने नीच जातिवालों के पात्र पुराने होते हैं, उन्हीं को साफ़ करके बनाकर बिक्री होती है और सब कोई लेकर वर्तते हैं। नाम तो उनपर लिखा नहीं कि किस किसने इसमें खाया है। अब यहां पर क्या व्यवस्था करोगे ? यदि अग्नि जल के संबंध से कहो, तब अन्य जातिवाले ने जिसमें भक्षण किया है वह भी जलादिकों करके शुद्ध हो जावेगा। पाखंड करना व्यर्थ है। और जो तुमने कहा है अशुद्धि का हेतु संबंध है। जब तक अशुद्ध पदार्थ का शुद्ध पदार्थ के साथ संबंध रहता है, तब तक वह शुद्ध भी अशुद्ध रहता है। जब अशुद्ध का संबंध नहीं रहता। तब वह शुद्ध का शुद्ध हो जाता है। सो यह भी तुम्हारा कथन नहीं बनता है। क्योंकि जिस काल में किसी चांडालादिकों से स्पर्श हो गया और जितने क्षण संबंध रहा उतने क्षण शरीर अशुद्ध रहा; जब संबंध का नाश हो गया तब शरीर शुद्ध होगया। फिर स्नानादि करना व्यर्थ है। क्योंकि संबंध करके अशुद्धि थी, वह तो अब है नहीं। और शरीर के भीतर मल मूत्र का सदैव संबंध बना रहता है। आचार करके शुद्धि कदापि नहीं होगी क्योंकि अशुद्धि का

कारण संबंध जब तक बैठा है, तब तक कार्य में अशुद्धि भी अवश्य होगी, वृथा ही तुम्हारी कल्पना हुई।

प्रश्न—मोक्ष का हेतु आचार मत रहे, हम अंतःकरण की शुद्धि का हेतु मान लेवेंगे।

उत्तर—अंतःकरण की शुद्धि का हेतु भी आचार नहीं हो सकता, क्योंकि अंतःकरण की शुद्धि रागद्वेष की निवृत्ति से होती है। और रागद्वेष की निवृत्ति वैराग्यादिकों के संपादन करने से होती है। और वैराग्यादिक सत्संग शास्त्रोक्त धारणा से होते हैं अतिआचार करने से नहीं होते।

प्रश्न—आप कहिए आचार का फल क्या है?

उत्तर—मुख्य फल तो आचार का शरीरादिकों से ग्लानि होनी है। और जिसको ग्लानि होती नहीं, उसको शरीर की सफाई फल है, क्योंकि बिना सफाई के शरीर रोगी हो जाता है। इसलिये रोग की निवृत्ति भी इसका फल है। और यथायोग्य स्नानादि आचार करके कर्म करने में प्रवृत्ति होती है। और शास्त्र में कहा भी है कि जितना यज्ञ दानादि कर्म है, वह सब स्नान करके करे। बिना स्नानादिकों के कर्म निष्फल होता है। इसलिये कर्मों में प्रवृत्ति भी इसका फल है। और अंतःकरण की शुद्धि या स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति आचार का फल नहीं है, यह शास्त्र का सिद्धांत है। सो आचार कैसा लेना? लोक-वेदसम्मत; किंतु लोक वेद विरुद्ध नहीं लेना। और बहुत आचार करने से भी परमेश्वर

प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि व्याध ने कौन-सा आचार किया था और गणिका गीध भीलनी आदिकों ने कौन सा आचार किया था? केवल प्रेम करके ही परमेश्वर उन सबं पर प्रसन्न हुए सो कहा भी है—

चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्।
नाशौचं कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यतः॥

विष्णु के नामों का सदैव सर्वत्र कीर्तन करे। उस विष्णु के नामों के उच्चारण करने में शौच आचारादिकों की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि नामों का उच्चारण तो इसको पवित्र ही करता है, उससे भिन्न और कोई पवित्र करनेवाली वस्तु नहीं है। और वाल्मीकि ध्रुवभक्त हनुमान् आदिक सब नाम को ही उच्चारण करके महान् पदवी को प्राप्त हुए हैं, आचार करके नहीं। इन पूर्वोक्त युक्ति और दृष्टांतों से यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर प्रेम करके ही प्रसन्न होते हैं और किसी करके नहीं होते। और पूर्व जो तुमने कहा है कि कोई कर्मसहित ज्ञान करके ही मोक्ष मानते हैं सो उनका मानना भी शास्त्रयुक्ति से विरुद्ध है, क्योंकि जिसका यह निश्चय है कि मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं पुनीत हूँ, मैं पापी हूँ, मेरे को यह कर्म कर्तव्य है, मेरे को यह कर्म कर्तव्य नहीं है, उसी पुरुष का कर्मों में अधिकार है। और जिसका यह निश्चय है कि न मैं कर्ता हूँ, न मैं भोक्ता हूँ, न मैं पुनीत हूँ, न मैं पापी हूँ

किंतु असंग हूँ कर्तव्य अकर्तव्य से रहित हूँ, सबका अधिष्ठान साक्षी रूप हूँ उसका कर्मों में अधिकार नहीं है। क्योंकि एक ही पुरुष में कर्तृत्व-अकर्तृत्व विरोधी धर्म दो नहीं रह सकते हैं। तब कैसे ज्ञान कर्म का समुच्चय होगा ? किंतु कदापि नहीं होगा। और यदि कहो कि जिस काल में कर्म करेगा उस काल में उसमें कर्तृत्व रहेगा, जिस काल में कर्म नहीं करेगा उस काल में अकर्तृत्व उसमें रहेगा, सो भी नहीं बनता। क्योंकि ज्ञान-अज्ञान यह दोनों विरोधी धर्म हैं। एक में दोनों नहीं रह सकते हैं। जैसे एक ही अग्नि में किसी काल में शीतलता और किसी काल में उष्णता विरोधी दो धर्म नहीं रह सकते हैं। और यदि एक में ही दोनों विरोधी धर्म मानोगे, तब कभी कर्मों का फल स्वर्ग नरकादि भोगेगा और कभी मोक्ष होगा। और मोक्ष होकर जन्म लेकर कर्म करेगा, फिर उनका फल भोगेगा। तब मोक्ष को भी कर्मों के फलवत् अनित्यता होवेगी। तब श्रुति से अत्यंत विरोध आवेगा। तथा च श्रुतिः—

न स पुनरावर्त्तते।

वह मुक्त विद्वान् फिर जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता। तथा च स्मृतिः—

ज्ञानाग्निसर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

हे अर्जुन ! ज्ञानरूपी अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।

इस गीता स्मृति के साथ भी विरोध आवेगा। और जिस काल में ज्ञान होगा उसी काल में अज्ञान का नाश हो जावेगा। जबकि अज्ञान का नाश हो गया, तब अज्ञान का कार्य जो कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक वह भी अज्ञान समकाल में ही नाश हो जावेंगे। तब कर्म कैसे करेगा कारण का अभाव होने से कार्य का भी अभाव हो जावेगा। तब समुच्चय कैसे होगा? किंतु कदापि नहीं होगा। और स्मृति भी कहती है कि—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते॥

पाप कर्मों के क्षय होने पर पुरुषों को ज्ञान उत्पन्न होता है और जब शुभ कर्मों के करने से चित्त के मल पक्व जाते हैं अर्थात् दूर हो जाते हैं पश्चात् ज्ञान प्रवृत्त होता है। तथा च श्रुतिः—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

कर्मों करके पाप की निवृत्ति होती है और ज्ञान करके मोक्ष होता है, यह दोनों स्मृति और श्रुति कर्मज्ञान के भिन्न-भिन्न फल को कहती हैं अर्थात् कर्मों के फल अंतःकरण की शुद्धि को, और ज्ञान के फल मोक्ष का विधान करते हैं, तब समुच्चय कैसे हो सकता है? किंतु नहीं हो सकता। और व्यास भगवान् का सूत्र भी समुच्चय के निषेध में प्रमाण है—

सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत् । (३-४-२६)

जैसे अश्व हर में नहीं जोता जाता है क्योंकि उसकी योग्यता नहीं है, किंतु रथ में ही जोता जाता है, वहाँपर उसकी योग्यता है। वैसे ज्ञान का फल जो मोक्ष, उसमें कर्मों की भी योग्यता नहीं है। जब कि कर्मों की मोक्ष में योग्यता ही नहीं है, तब समुच्चय कैसे होगा ? किंतु कदापि नहीं होगा। पूर्वोक्त श्रुति, स्मृति, युक्ति और सूत्र करके यह सिद्ध हुआ कि कर्मसहित ज्ञान करके मुक्ति नहीं होती किंतु केवल ज्ञान करके ही मुक्ति होती है। समुच्चयवादी का मत खंडन कर दिया।

अब जो उपासना करके मुक्ति मानते हैं, उनके मत का खंडन करते हैं। दो प्रकार से उपासना होती है। एक तो भेद भावना करके, दूसरी अभेद भावना करके। दोनों में से, यह मेरा स्वामी है, हम उसके दास हैं, ऐसा मानकर जो देवता का ध्यानादि करना है यह भेद उपासना है। सो यह भी अंतःकरण की शुद्धि का हेतु है; मुक्ति का हेतु नहीं है। दूसरी अभेद भावना करके उपासना होती है। वह देव मेरा ही स्वरूप है। मेरा उससे किंचित् भी भेद नहीं है। सो यह भी मुक्ति का साधन नहीं है; किंतु ज्ञान का साधन है। क्योंकि श्रुति ने नियम कर रक्खा है कि ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती। और परंपरा करके जैसे

श्रवणादि मुक्ति का साधन है, वैसे यह भी रहे। इसमें कुछ विवाद नहीं है। परंतु साधन-चतुष्टय-संपन्न अधिकारियों को ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मश्रोत्रगुरुद्वारा तत्त्वमस्यादि महावाक्यों करके ही ज्ञान होकर पश्चात् मोक्ष होता है।

प्रश्न—तत्त्वमस्यादि महावाक्य भी उपासना को ही विधान करते हैं। जैसे—

मनो ब्रह्मेत्युपासीत।

मन में ब्रह्मदृष्टि करे।

आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत।

आदित्य में ब्रह्मदृष्टि करे।

आकाशो ब्रह्मेत्युपासीत।

आकाश में ब्रह्मदृष्टि करे।

अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत।

अन्न में ब्रह्मदृष्टि करे। यह श्रुतिवाक्य जैसे मन आदिकों में ब्रह्मदृष्टि विधान करते हैं, कुछ मन आदिकों को ब्रह्मरूप विधान नहीं करते, वैसे तत्त्वमस्यादि वाक्य भी त्वं पद का अर्थ जो जीव उसमें ब्रह्मदृष्टि विधान करते हैं, कुछ जीव को ब्रह्मरूप का बोधन नहीं करते हैं। अथवा यह तत्त्वमस्यादि वाक्य गुणवाद को कहते

हैं। जैसे किसी निर्भय पुरुष को देखकर और पुरुष कहते हैं कि यह ईश्वर है; अर्थात् जैसे ईश्वर में निर्भयादि गुण हैं वैसे इस पुरुष में भी हैं। यहाँ पर इस पुरुष में ईश्वर के निर्भयादि गुणों का आरोप किया जाता है, कुछ वह ईश्वर नहीं हो जाता, वैसे तत्त्वमस्यादि वाक्य भी ब्रह्म के गुणों का जीव में आरोपमात्र करते हैं, जीव में ब्रह्मरूपता नहीं कहते हैं। किंवा तत्त्वमस्यादि वाक्य जीव की स्तुति पर कहे हैं। जैसे किसी दाता को भिक्षुक कहता है कि आप तो राजा कर्ण हैं, साक्षात् विष्णुरूप हैं। अब भिक्षुक की इस प्रकार की स्तुति करके वह दाता कर्ण और विष्णु नहीं हो सकता, वैसे यह महावाक्य भी जीव की स्तुति करते हैं। तू ब्रह्म है। इस प्रकार की स्तुति करके यह जीव भी ब्रह्मरूप नहीं हो सकता। इस वास्ते महावाक्य भी उपासना का ही विधान करते हैं।

उ०—मनो ब्रह्मेत्युपासीत।

इत्यादि वाक्यों में जैसे इति और उपासीत यह विधि शब्द विधान किए हैं, वैसे तत्त्वमस्यादि वाक्यों में इति और उपासीत शब्दों का विधान नहीं किया है। इस वास्ते तत्त्वमस्यादि जो वाक्य है, वह मनोब्रह्म इत्यादि वाक्यों से विलक्षण है। जैसे जल में आरोपित जो पृथिवी का गंध गुण है, उसका निषेधक यह वाक्य है।

पृथिव्या एव गंधः ।

यह गंध गुण पृथिवी का ही है जो जल में प्रतीत होता है; जल का अपना गुण नहीं है। वैसेही

"तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि"

जो वाक्य हैं, वे भी मूढ़ पुरुषों द्वारा आत्मा में आरोपित किए जो कर्तृत्वादि हैं उनका निषेध करके जीव-ब्रह्म के अभेद को बोधन करते हैं, इसी हेतु से तत्त्वमस्यादि गुण विधिपरक भी नहीं हैं। और जिस कारण से स्तुति का वाचक तू इंद्र है, तू विष्णु है। ऐसा कोई पद भी तत्त्वमस्यादि वाक्यों में नहीं है, उसी कारण से यह स्तुति-परक भी नहीं है। मुख्य अर्थ जहां हो सके वहां गौण अर्थ की कल्पना करना भी अनुचित है। और तत्त्वमस्यादि वाक्यों में किसी विधि पद का श्रवण तो है नहीं जिससे ऐसा अर्थ हो कि जो तुम जीव को ब्रह्म-रूप करके उपासना करो। किंतु जीव-ब्रह्म के अभेद का बोधक असि पद तो विद्यमान है अर्थात् तत्—ब्रह्म, त्वं—तुम, असि—हो। यही अक्षरों के अर्थ का भान होता है। तब कैसे उपासना-परक तत्त्वमस्यादि वाक्य हो सकते हैं, किंतु कदापि नहीं हो सकते।

प्र०—यद्यपि महावाक्यों में विधि पद का श्रवण नहा है, तथापि अन्य उपासना-परक वाक्यों में से विधि पद का महावाक्यों

में अध्याहार कर लेवेंगे अर्थात् ले आवेंगे, तब उपासना-परक हो जावेंगे।

उ०—यदि अन्य वाक्यों में से विधि पद का अध्याहार करोगे तब वह अध्याहार किया हुआ विधि पद अनर्थक हो जावेगा, क्योंकि पुरुष करके अध्याहार किया हुआ विधि पद वैदिक तो होगा नहीं, वेद के अपौरुषेय होने से; इसी हेतु से यह अनर्थक हो जावेगा। और यह तत्त्वमस्यादि वाक्य अपने अभेद-रूप अर्थ के बोधन करने में अधिकारी के प्रति क्या असमर्थ है जो तुम विधि पद का अध्याहार करोगे। जिस कारण से असमर्थ नहीं है किंतु समर्थ है उसी कारण से विधि पद का अध्याहार नहीं हो सकता और यथाश्रुत अर्थ का त्याग और अश्रुत अर्थ की कल्पना भी होगी, तब वेद के अर्थ के वेत्ताओं के सिद्धांत की हानि भी होगी। इस वास्ते श्रुति के भक्तों द्वारा जो श्रुति के मुख से निकला है उसी का ग्रहण करना चाहिए। पूर्वोक्त युक्तियों से यह सिद्ध हुआ कि जो महावाक्य हैं, वे उपासना-परक नहीं हैं किंतु उपासना के फल का निरूपण करते हैं।

अब संन्यास के फल का निरूपण करते हैं। और जो तुमने पहले कहा है कि जो कोई केवल संन्यास के धारण करने से ही मोक्ष मानते हैं, सो उनका भी मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे श्रवण मननादि ज्ञान के साधन कहे हैं, वैसे संन्यास भी एक

साधन कहा गया है, मुक्ति का साधन संन्यास नहीं है। क्योंकि केवल संन्यास को मोक्ष की साधनता में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसलिये संन्यास, मुक्ति के प्रति साधन नहीं है, किंतु ज्ञान के प्रति साधन है।

प्र०—त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्।

सब जीवों के लिये त्याग ही मोक्ष का उत्तम साधन है, इस श्रुति-प्रमाण से केवल संन्यास को ही मोक्ष के प्रति साधनता सिद्ध होती है।

उ०—जो तुमने श्रुति का प्रमाण दिया है, वह संन्यास को साक्षात् मोक्ष के प्रति साधन को नहीं कहती किंतु ज्ञानद्वारा कहती है। क्योंकि उस श्रुति का यह अर्थ है कि जितने ज्ञान के साधन हैं उन सब में से त्याग ही ज्ञान का उत्तम साधन है, और मोक्ष शब्द करके श्रुति में ज्ञान-रूप अर्थ का ग्रहण किया गया है। जैसे गीता-वाक्य में "संसिद्धि" शब्द करके ज्ञान-रूप अर्थ ग्रहण किया गया है। यदि श्रुति में मोक्ष शब्द करके मोक्ष का ही ग्रहण करोगे तो—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

इस श्रुति के साथ विरोध आवेगा। और शास्त्रों में दो प्रकार का संन्यास कहा है। एक विद्वत् संन्यास दूसरा विविदिषा-संन्यास।

दोनों में से आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् जो संन्यास ग्रहण करना है उसका नाम विद्वत्-संन्यास है। और ज्ञान की प्राप्ति के वास्ते जो संन्यास है उसका नाम विविदिषा-संन्यास है। इसलिये दोनों में से विविदिषा-संन्यास को ज्ञान का साधन कहा है। और विद्वत्-संन्यास को जीवन्मुक्ति का साधन कहा है। अन्यथा संन्यास का भेद नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि तुमने तो केवल संन्यास-मात्र को मोक्ष का साधन माना है। और अनेक विरोध भी आवेंगे। और ज्ञान के लिये विविदिषा-संन्यास को शास्त्रकारों ने क्यों कहा, क्योंकि तुमने तो मोक्ष को संन्यास का फल माना है, तब मोक्ष के लिये विविदिषा-संन्यास को कहते। ऐसा तो कहा नहीं, इस वास्ते ज्ञान का ही साधन है, मोक्ष का नहीं है। और विद्वत्-संन्यास भी व्यर्थ हो जावेगा, क्योंकि वह भी मोक्ष के वास्ते नहीं है, किंतु जीवन्मुक्ति के वास्ते है। और जो छः प्रकार के कुटीचक, बहूदक आदि संन्यास के भेद कहे हैं, वे भी सब व्यर्थ हो जावेंगे क्योंकि उनके भी भिन्न-भिन्न फल कहे हैं। मोक्ष-रूप फल किसी का भी नहीं कहा है, इसवास्ते यह वृथा ही कल्पना है कि केवल संन्यास करके ही मोक्ष होता है।

प्र०—मोक्ष केवल संन्यास करके न हो, ज्ञान तो केवल संन्यास करके ही होता है। क्योंकि गृहस्थ-आश्रम में नाना प्रकार के विक्षेप बने रहते हैं, जिनके कारण श्रवणादि बन नहीं पड़ते।

और संन्यास करने में कोई विशेष नहीं रहता, श्रवणादिक भी बन पड़ते हैं, इसवास्ते ज्ञान में संन्यासी का ही अधिकार है; गृहस्थ का नहीं है।

उ०—उपनिषद्भाग में जनकादि गृहस्थ ज्ञानी लिखे हैं। और शास्त्रों में भी वशिष्ठादि अनेक ऋषि गृहस्थ ज्ञानी लिखे हैं। यदि संन्यासी का ही ज्ञान में अधिकार होता, तो वेद में जनक वशिष्ठादिकों को क्यों ज्ञानी लिखा? क्योंकि बिना ही संन्यास के उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई है। और याज्ञवल्क्य ने गार्हस्थ्य में ही जाकर जनक को उपदेश किया है और गार्हस्थ्य में ही श्रीकृष्ण-चंद्र ने अर्जुन को गीता में ज्ञान का उपदेश किया है। और ऊधव के प्रति भी उपदेश किया है। और रामचंद्र को गार्हस्थ्य में ही वशिष्ठजी ने ज्ञान उपदेश किया है। और रामचंद्र ने लक्ष्मणादि और हनुमानादि गृहस्थों के प्रति ज्ञान का उपदेश किया है। यदि संन्यासी का ही अधिकार मानोगे, तब इस सब शास्त्र के साथ विरोध आवेगा। इसवास्ते यह नियम नहीं है कि संन्यासी का ही ज्ञान में अधिकार है, किंतु मनुष्य-मात्र का अधिकार है। और जो संन्यास को ही मोक्ष का साधन मानोगे तब इंद्र ने जो बारह हज़ार संन्यासी का शिरछेदन अज्ञानी जानकर कर दिया, उनको ज्ञान क्यों न हुआ, वे तो संन्यासी ही थे। और जो—

तस्य पुत्रा दायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषंतः पापकृत्यामिति।

उस ज्ञानी का धन उसके पुत्र ग्रहण करते हैं। और सुहृद उसके पुण्य-कर्मों का ग्रहण करते हैं। और द्वेषी उसके पाप-कर्मों का ग्रहण करते हैं। यदि संन्यासी का ही ज्ञान में अधिकार होता, तब यह श्रुति क्यों कहती कि उसके धन को उसके पुत्र ग्रहण करते हैं। क्योंकि संन्यासी के धन पुत्र तो है नहीं, और गृहस्थ के ही धन पुत्रादि होते हैं, इसलिये इसी श्रुति प्रमाण से जानते हैं कि ज्ञान में सबका अधिकार है; केवल संन्यासी का ही नहीं। जैसे गंगा-जल के पान करने में सबका अधिकार है, जो यत्न करे वही पान कर सकता है और गंगा-जल उस के पापों को दूर कर सकता है, वैसे ज्ञान-रूपी अमृत के पान करने में भी सबका अधिकार है। जो साधन करे वही ज्ञान-रूपी अमृत को पान करके मोक्ष-रूपी आनंद को प्राप्त हो सकता है; अन्य नहीं।

प्रश्न—संक्षेप शारीरक में कहा है कि पूर्वजन्म में जिसने संन्यास धारण किया है उसीको जन्मांतर में गृहस्थाश्रम में ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसवास्ते जिनको गार्हस्थ्य में ज्ञान हुआ है, उन्होंने भी पूर्वजन्म में संन्यास को धारण किया था, इसी वास्ते संन्यासी का ही अधिकार है।

उत्तर—इसमें कोई श्रुति-प्रमाण नहीं मिलता है कि जिसने पूर्व-जन्म में संन्यास को धारण किया है उसीको जन्मांतर में ज्ञान होवे। यह भी एक पक्षपात की बात है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि जिसने पूर्व-जन्म में संन्यास ग्रहण किया है उसीको जन्मांतर में ज्ञान होता है, किंतु श्रवणादिकों को भी वहाँ पर संन्यास के साथ ग्रहण किया है। इसीसे जानते हैं कि श्रवणादिकों को ही मुख्य कारणता है। यदि संन्यास को ही कारणता होती, तब विविदिषा आदि संन्यासियों को श्रवणादिकों का विधान क्यों किया जाता। उनको श्रवणादिकों का विधान किया गया है, इसीसे जाना जाता है कि मुख्य साधनता श्रवणादिकों को है। और सांसारिक विक्षेप की निवृत्ति के वास्ते संन्यास है। पूर्वोक्त युक्ति-प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि केवल संन्यास के भी धारण करने से मोक्ष नहीं होता, किंतु ज्ञान करके ही मोक्ष होता है, इससे संन्यास का प्रयोजन निरूपण कर दिया।

जो तुमने पूर्व शंका की है कि इस समय में भी अनेक मत प्रवृत्त हुए हैं, वे अपने-अपने मत में भिन्न-भिन्न मुक्ति मानते हैं। सो उन नवीन मतों में जो श्रुति के भक्त हैं और ज्ञान करके ही मोक्ष मानते हैं और जीव-ब्रह्म का वास्तव में भेद नहीं मानते, वे मत नवीन नहीं हैं, किंतु नाममात्र का उनका भेद है। और जो श्रुति के अनुकूल नहीं हैं किंतु विरुद्ध हैं, अपने

मन की अन्यथा-अन्यथा कल्पना करते हैं, वे त्यागने-योग्य हैं।

प्रश्न—कोई और नवीन मतवाले यह कल्पना करते हैं कि केवल गार्हस्थ्य आश्रम में रहकर चारों आश्रमों के धर्म हो सकते हैं। और गार्हस्थ्य में चारों आश्रम अंतर्भूत हैं। पृथक्-पृथक् संन्यासादिकों का ग्रहण करना व्यर्थ है। और गार्हस्थ्य में ही अपने को ब्रह्मचारी वानप्रस्थ संन्यासी मानते हैं। गार्हस्थ्य से भिन्न संन्यास को वृथा जानकर निंदा भी करते हैं, यह उनका मत कैसा है?

उत्तर—यह जो तुमने कथन किया सो उनकी कल्पना वेद-विरुद्ध है। क्योंकि एक आश्रम में एक पुरुष करके विरोधी धर्म कैसे हो सकते हैं। संन्यासी को लिखा है कि लकड़ी की बनाई हुई स्त्री का भी स्पर्श न करे। जहाँ पर बनावटी स्त्री का निषेध है, वहाँ साक्षात् का कैसे स्पर्श हो सकता है। और गार्हस्थ्य को लिखा है कि ऋतुकाल में भार्या को प्राप्त होवे। ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म एक में कैसे रह सकते हैं? किंतु कदापि नहीं रह सकते। और यदि गार्हस्थ्य आश्रम में ही संन्यास हो सकता, तब याज्ञवल्क्य आदि स्त्री-धनादिकों का त्याग करके संन्यास-आश्रम को क्यों ग्रहण करते और वेद आश्रमों के क्रम का विधान क्यों करता? तथा च श्रुतिः—

ब्रह्मचर्याद् गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।

प्रथम ब्रह्मचर्य को धारण करे, फिर गार्हस्थ्य को, फिर वानप्रस्थ को, पश्चात् संन्यास को ग्रहण करे। इन हेतुओं से उनकी कल्पना उन्मत्त की नाईं होने से और वेद-विरुद्ध होने से सर्वदा त्यागने-योग्य है। और जो वह निंदा करते हैं वह उनकी भूल है। शास्त्र के तात्पर्य को नहीं जानकर ऐसा करते हैं। और भारत में कहा है—

यथा हि निपुणः सम्यक् परदोषेक्षणं प्रति।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बंधनात्॥

जैसे यह जीव औरों के दोष-निरीक्षण करने में बड़ा निपुण है, वैसे यदि अपने दोषों के निरीक्षण करने में निपुण होवे, तो कौन ऐसा जीव है जो संसाररूपी बंधन से न छूटे, किंतु अवश्य छूटे। इस भारत-प्रमाण से यदि वह अपने दोषों को देखे, तब क्यों निंदा करे। और नीति में कहा है—

गुणायन्ते दोषाः सुजनवदने दुर्जनमुखे
गुणा दोषायन्ते किमिति,जगतां विस्मयपदम्।
यथा जीमूतोऽयं लवणजलधेर्वारि मधुरं
फणी पीत्वा क्षीरं वमति गरलं दुःसहतरम्॥

श्रेष्ठ पुरुषों के मुख में जाकर दोष भी दूसरे के गुणरूप हो जाते हैं और दुर्जनों के मुख में जाकर गुण भी औरों के दोषरूप हो जाते हैं, यह जगत् में आश्चर्य है। जैसे मेघ समुद्र के खारी जलको

पान करके मधुर वरसाते हैं और जैसे सर्प दूध को पान करके विष को वरसाता है वैसे ये निंदक शास्त्ररूपी अमृत को पान करके निंदारूपी विष को वरसाते हैं। यदि वह कहें कि संन्यास के धर्म तो सब में नहीं घटते किंतु किसी एक में घटते हैं, तब गार्हस्थ्य के धर्म भी सब गार्हस्थ्यों में नहीं घटते, किंतु किसी एक में ही घटते हैं। यह दोष तो तुल्य ही है। और शास्त्रों में संन्यास के धर्मों से गार्हस्थ्य के धर्म अति कठिन कहे हैं। और द्विजाति के जन्म से लेकर मरण पर्यंत चालिस संस्कार कहे हैं, सो वह कहीं नहीं दिखाते, इसवास्ते गुणग्राही होना चाहिए।

प्रश्न—अग्न्याधानं गवालंभं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

प्रश्न—अग्निहोत्र, गोमेध-यज्ञ, संन्यास, मांस का पिंडा, देवर से पुत्र उत्पन्न करना ये पाँच कलियुग में वर्जित हैं। इस स्मृति-प्रमाण से संन्यास का कलियुग में निषेध किया है। आप कैसे संन्यास का विधान करते हैं?

उत्तर—यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्त्तते।
तावत्संन्यासाग्निहोत्रं कर्तव्यं तु कलौयुगे॥

उत्तर—जब तक वर्णों का विभाग है और जब तक वेद-मार्ग की प्रवृत्ति है, तब तक संन्यास और अग्निहोत्र कलियुग में कर्तव्य है।

इस स्मृति ने तीन का निषेध करके अग्निहोत्र तथा संन्यास दोनों का कलि में विधान किया है।

प्रश्न—पूर्व-स्मृति करके उत्तर-स्मृति का बाध क्यों न हो; क्योंकि उसमें कलि-पद का पाठ है, वह विशेष वाक्य है और उत्तर-स्मृति में कलि-पद है नहीं, इसवास्ते वह सामान्य वाक्य है। विशेष करके सामान्य का बाध होता है। इस न्याय करके पूर्व-स्मृति ही प्रमाण होगी उत्तर नहीं होगी, तब तो संन्यास का निषेध लगा ही रहेगा।

उत्तर—जो बहुव्यापक होवे उसका नाम सामान्य है, जो अल्प-व्यापक होवे उसका नाम विशेष है। सो पूर्व-स्मृति बहुतों का निषेध करने से बहुव्यापक है और उत्तर अल्पव्यापक है, क्योंकि अल्पों का निषेध करती है अर्थात् तीन का निषेध करके दो का विधान करती है, इस वास्ते यह उत्तर-स्मृति ही विशेष वाक्य है। इस करके पूर्व-स्मृति का बाध हो जावेगा, तब दोनों को अर्थ से ही विधानता आ जावेगी। और जो तुमने कहा है कि पूर्व-स्मृति में कलि-पद का पाठ है, इसवास्ते वह विशेष है सो ठीक नहीं है, क्योंकि कलि के धर्मों के निरूपण में दोनों स्मृति पढ़ी गई हैं। इसवास्ते कलि-पद का पूर्व-स्मृति से अनुकर्षण किया जावेगा। और इतर युगों में तो विवाद भी नहीं है, इसवास्ते कलि-पद का आकर्षण करना उचित है। और यदि कलि में संन्यास का निषेध होता, तब शंकर

शंकराचार्य के अवतार को लेकर संन्यास-मार्ग का क्यों विधान करते। और आप संन्यास को क्यों ग्रहण करते। इससे भी जाना जाता है कि पूर्व-स्मृति का उत्तर-स्मृति करके बाध होता है। और श्रुति के साथ भी विरोध आवेगा—

ब्रह्मचर्याद् गृही भवेत् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।

इस श्रुति में किसी युग का नाम नहीं लिया केवल संन्यास का विधान किया है। और जहाँ पर श्रुति-स्मृति का विरोध होवे वहाँ पर श्रुति बल होता है। इस श्रुति करके भी पूर्व-स्मृति का बाध हो जावेगा। इन श्रुति-स्मृति-युक्ति-प्रमाणों करके कलि में संन्यास सिद्ध है।

प्रश्न—संन्यास का कलि में विधान रहे, परंतु और जो नाना प्रकार के वेष चले हैं, इनका किस आश्रम में अंतर्भाव है?

उत्तर—जो उनमें विरक्त हैं, शिखा-सूत्र त्यागी हैं, वेदांत निष्ठा-वाले हैं, उनका संन्यास में अंतर्भाव है। और जो यज्ञोपवीत जटा धारण किए हैं और विरक्त हैं तथा इसी में आयु व्यतीत करते हैं, वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। जो शिखा-सूत्र को धारण किए हैं, विरक्त हैं, भिक्षा-वृत्तिवाले हैं, उनका भी ब्रह्मचर्य में अंतर्भाव है, परंतु जो विरक्त है, चाहे मुंडित हो चाहे जटिल, यदि वह आत्मा का ही चिंतन करता है और अभेदवादी है, तो वह शुद्ध संन्यासी है। क्योंकि संन्यास नाम त्याग का है, कुछ वेषमात्र धारण करने का

नहीं है, किंतु ज्ञान-तत्पर का नाम संन्यासी है। यह वार्ता भाष्य-कारों ने भी कही है—

हठाभ्यासो हि संन्यासो नैव काषायवाससा।
नाहं देहोऽहमात्मेति निश्चयो न्यासलक्षणम्॥

हठ से मन इंद्रियों को रोककर जो आत्मा का चिंतन करता है, वही संन्यासी है। काषाय-धारण का नाम संन्यासी नहीं है। मैं देह नहीं हूँ किंतु देह से भिन्न शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा जिसको निश्चय है, वही संन्यासी है। काषाय-धारण केवल इतर आश्रमों का भेदक है। अन्यथा यती का व्यवहार न सिद्ध हो। जो संन्यास को धारण करके ज्ञान-तत्पर नहीं है, उसकी शास्त्र भी निंदा करता है।

सत्कारमानपूजार्थं दण्डकाषायधारणः।
स संन्यासी न वक्तव्यः संन्यासी ज्ञानतत्परः॥
(गुरुगीता)

जिसने सत्कार मान और पूजा के लिये दंड काषाय धारण किया है वह संन्यासी नहीं है, जो ज्ञान-तत्पर है वही संन्यासी है। अन्यत्र भी कहा है—

शिखासूत्रपरित्यागी वेदान्तश्रवणं विना।
विद्यमानेऽपि संन्यासे पतित एव न संशयः॥

जो शिखा-सूत्र का त्यागी है और वेदांत-शास्त्र का श्रवण नहीं करता, संन्यास के विद्यमान होने पर भी वह पतित ही है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि जो त्यागी ज्ञान-तत्पर है, वही संन्यासी है। तब जितने त्यागी-वेष हैं, वे सब संन्यास के ही अंतर्भूत हैं और जो द्वैतवादी हैं, वे संन्यास के अंतर्भूत नहीं हैं। उनको जो तुम्हारी इच्छा हो सो समझो, इसमें हम विवाद नहीं करते हैं।

प्रश्न—जब सभी वेष संन्यास के ही अंतर्भूत हैं, तब इनका नाम-भेद क्यों हुआ और परस्पर विरोध क्यों रखते हैं ?

उत्तर—जैसे चार आश्रमों में गार्हस्थ्य एक आश्रम है, परंतु चारों वर्णों के कुटुंबी गार्हस्थ्य के ही अंतर्भूत हैं। अवांतर वर्णों के नाम-भेद होने पर भी जैसे एक-एक वर्ण में अनेक जातियाँ हैं और परस्पर खान-पानादि व्यवहार का भेद भी है, परंतु वे सब जातियाँ एक-एक वर्ण ही कही जाती हैं; जातियों के भेद होने से वर्ण का भेद नहीं होता, जैसे श्रुतियों में एक संन्यास-मात्र का विधान है और आगे स्मृतिकारों ने उसके कुटीचक बहूकादि भेद कर दिए हैं और फिर शंकर स्वामी ने दस नाम भेद बना दिए हैं, परंतु संन्यास एक ही है उसका भेद नहीं, वैसे और आचार्यों ने भी अपने-अपने भिन्न-भिन्न नाम कल्पना कर दिए हैं। सभी संन्यासी हैं, वास्तव में भेद नहीं है और जो परस्पर निंदा करते हैं वे निंदक संन्यासी नहीं हो सकते। जो समदर्शी हैं, सर्वत्र आत्मदृष्टि

करते हैं वही संन्यासी हैं, यही वेद का सिद्धांत है। और जो देहा-भिमानी अज्ञ पुरुष हैं, वे ही परस्पर निंदा करते हैं, इसीवास्ते शास्त्र में देहाभिमानी को ही पापी कहा है। तथा च स्मृतिः—

देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः।
प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम्॥

देहाभिमान से जो पाप होता है, वह पाप कोटि गौ के वध करने से भी नहीं होता। और प्रायश्चित्त करने से गोवधकारियों की शुद्धि होती है, परंतु देहाभिमानी की प्रायश्चित्त करने से भी शुद्धि नहीं होती। इसवास्ते महात्मा लोग किसी की निंदा नहीं करते हैं, किंतु गुणग्राही रहते हैं।

प्रश्न—ज्ञान की प्राप्ति जिन साधनों द्वारा गार्हस्थ्य आश्रम में होती है उन्हीं साधनों द्वारा संन्यास-आश्रम में भी होती है, तब संन्यास लेकर कष्ट सहना तो व्यर्थ हुआ, फिर किस वास्ते वृथा परिश्रम करना?

उत्तर—गार्हस्थ्य आश्रम में श्रवणादि साधन बड़े दुःख करके भी संपादन होने कठिन हैं, क्योंकि अनेक प्रकार के स्त्री-पुत्र और धनादि के कष्ट बने रहते हैं। और संन्यास-आश्रम में विक्षेपकारक कोई कष्ट नहीं रहता और शरीर-यात्रा को प्रारब्ध-आश्रित होने से ज्ञान के साधन शीघ्र ही बन जाते हैं, इसवास्ते इसको अधिकता

कही है। और यद्यपि विदेह मुक्ति में दोनों ज्ञानियों की तुल्यता है, तथापि जीवन्मुक्ति का सुख यती ज्ञानी को ही प्राप्त होता है गृहस्थी ज्ञानी को नहीं, क्योंकि याज्ञवल्क्यादिकों ने जीवन्मुक्ति के सुखार्थ ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी गार्हस्थ्य आश्रम का त्याग करके संन्यास को ग्रहण किया है। यदि अधिकता न होती, तो वह क्यों त्यागते और वेद में भी संन्यास-आश्रम को श्रेष्ठ लिखा है। तथा च श्रुतिः—

न्यास इति ब्रह्मा।

संन्यास ही ब्रह्मा है।

न्यास एवात्परे च।

संपूर्ण तपों को तराज़ू में एक ओर धरा और संन्यास को एक ओर धरकर ब्रह्मा ने तोला, तब संन्यास ही अधिक निकला। और स्मृति भी सब आश्रमों से संन्यास को ही अधिक कथन करती है—

चतुर्वेदी तु यो विप्रः सोमयाजी शतक्रतुः।
तस्मादपि यतिः श्रेष्ठो मेरुसर्षपयोरिव॥

चारों वेदों का जाननेवाला जो ब्राह्मण है और जो सोमयाजी अर्थात् सोम-यज्ञ करनेवाला है और जो सौ यज्ञ का करनेवाला है, उससे भी यति श्रेष्ठ है। सुमेरु और सरसों की तरह अधिकता है।

यतिर्यस्य गृहे भुंक्ते तस्य गेहे स्वयं हरिः।
हरिर्यस्य गृहे भुंक्ते तस्य भुंक्ते जगत्त्रयम् ॥

यती ज्ञानी जिसके घर में भोजन करता है मानों परमेश्वर स्वयं उसके घर में भोजन करता है, क्योंकि परमेश्वर में और ज्ञानी यती में भेद नहीं है। और गीता में भी भगवान् ने कहा है—

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

ज्ञानी मेरा आत्मा ही है और हरि जिसके घर में भोजन करते हैं मानों तीनों लोक उसके घर में भोजन करते हैं।

वशिष्ठस्मृतिः—

यद्येको ब्रह्मविद्भुंक्ते जगत्तर्पयतेऽखिलम्।
तस्माद् ब्रह्मविदे देयं यद्यस्ति वस्तु किंचन ॥

यदि एक भी ब्रह्मविद् जिसके घर में भोजन करके तृप्त होता है, तब मानों तीनों लोकों को उसने तृप्त कर दिया। उसी कारण से ब्रह्मविद् यती को सब पदार्थ देने-योग्य हैं। कहा भी है—

रत्नाकरः किं कुरुते स्वरत्नैर्विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति।
श्रीखण्डखण्डैर्मलयाचलः किं परोपकाराय सतां विभूतयः॥

समुद्र अपने रत्नों द्वारा अपना क्या प्रयोजन सिद्ध करता है? और विंध्याचल पर्वत अपने हस्तियों द्वारा अपना क्या प्रयोजन सिद्ध

करता है ? और मलयागिरि पर्वत चंदन के टुकड़ों द्वारा अपना क्या प्रयोजन सिद्ध करता है ? अर्थात् जैसे यह अपने-अपने पदार्थों द्वारा अपना कुछ नहीं सिद्ध करते, किंतु परोपकारार्थ इनके पदार्थ हैं, वैसे आत्मवित् का भी जो पदार्थ लेना है वह परोपकारार्थ है, कुछ अपने अर्थ नहीं है । पूर्वोक्त प्रमाणों से चारों आश्रमों में संन्यास आश्रम को ही अधिकता सिद्ध हुई ।

प्रश्न—कोई लोग ऐसा कहते हैं कि जैसे व्यास वशिष्ठादि ज्ञानी थे और वरदान तथा शाप देने की उनको सामर्थ्य भी थी, वैसे जिसको वरदान और शाप देने की सामर्थ्य हो, वही ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं होता । इसवास्ते इस समय संसार में कोई ज्ञानी नहीं है ।

उत्तर—जैसे उलूक सूर्य के अभाव की कल्पना करते हैं उनकी कल्पना करके सूर्य का अभाव नहीं हो सकता, वैसे मूढ़ों की कल्पना से ज्ञानी का अभाव नहीं हो सकता, परंतु सत्संग के विना और वेदांत-शास्त्र के विचार के विना पंडितों करके भी ज्ञानी चीन्हा नहीं जाता । और यह भी नियम नहीं है कि जिसमें वर और शाप की सामर्थ्य हो वही ज्ञानी होता है, क्योंकि वर-शाप की सामर्थ्य तप का फल है । सो तप दो प्रकार का है—एक निष्काम, एक सकाम । जो सकाम तप है, सिद्धि के अर्थ उसी का फल वर और शाप देने का सामर्थ्य है; जो निष्काम तप है अंतःकरण की शुद्धि द्वारा उसका फल ज्ञान है । इसवास्ते जिनने वर और शाप के हेतु सकाम तप

किया है, उसमें ही वर और शाप देने की सामर्थ्य रहेगी। और जिसने केवल अंतःकरण की शुद्धि के अर्थ निष्काम तप किया है उसमें ज्ञान ही रहेगा, वर और शाप की सामर्थ्य नहीं रहेगी। और जिसने दोनों प्रकार का तप किया है उसी में दोनों रहेंगे। सो व्यास वशिष्ठादिकों में दोनों प्रकार का तप था, इसवास्ते उनमें दोनों रहे। और मुक्ति में केवल ज्ञान को ही कारणता है, अन्य को नहीं।

प्रश्न—महावाक्य-जन्य जो आत्मज्ञान है वह स्वतंत्र मोक्ष का साधक है, अथवा कर्मों की सहायता लेकर मोक्ष का साधक है?

उत्तर—कर्मों की सहायता के विना स्वतंत्र ही ज्ञान मोक्ष का साधक है।

तथा च श्रुतिः—

ज्ञानादेव तु कैवल्यं।

ज्ञान से मोक्ष होता है। व्यास भगवान् का सूत्र भी इसमें प्रमाण है—

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः।

(अ० ३ पा० ४ सू० १)

इसलिये वेदांतविहित आत्मज्ञान ही स्वतंत्र मोक्ष का साधन है। इस प्रकार बादरायण व्यास भगवान् मानते हैं। (शब्दात्) श्रुति-प्रमाण से। तथा च श्रुतिः—

तरति शोकमात्मवित् ।

आत्मवित् संसाररूपी शोक को तर जाता है ।

स यो ह वै तत्परब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।

जो विद्वान् उस परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है ।

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये ।

उस विद्वान् को उतना ही काल मोक्ष में विलंब है जब तक प्रारब्ध भोग से नहीं छूटता है ।

अथ संपत्स्ये ।

प्रारब्ध के अनंतर मुक्त हो जाता है । यह सब श्रुतियाँ केवल ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु कहती हैं ।

प्रश्न—जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे ।

विदेह जनक राजा बहुत दक्षिणावाले यज्ञ करके यज्ञ को करता भया । उसी प्रकार—

यक्ष्यमाणो वै भगवंतोऽहमस्मीत्येवमादीनि ।

अर्थात् कैकेय राजा ने ब्राह्मणों से कहा कि "हे भगवन् ! मैं यज्ञ को करूँगा, आप यहाँ पर निवास करिए ।" इत्यादि वेद-वाक्यों में जनकादि ज्ञानियों की भी कर्म में प्रवृत्ति सुनने से जाना जाता

है कि कर्मादिकों की सहायता करके आत्मज्ञान मोक्ष का साधन है। यदि केवल ज्ञान से ही मोक्ष सिद्ध होता, तब थोड़े उपायवाले ज्ञान का लाभकर फिर बहुत परिश्रम करके साध्य जो कर्म हैं उनमें जनकादिक क्यों प्रवृत्त होते? जिस वास्ते जनकादिकों की प्रवृत्ति कर्मों में सुनी जाती है, इसवास्ते कर्मों की सहायता लेकर ही ज्ञान मोक्ष का साधन है। स्वतंत्र नहीं है। और श्रुति में विद्याकर्मों का सहगमन भी कहा है—

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते।

उस विद्वान् के साथ विद्या और कर्म परलोक को गमन करते हैं। इस श्रुति-प्रमाण से भी विद्या को स्वतंत्रता नहीं है।

उत्तर—जनकादिकों की जो कर्मों में प्रवृत्ति तुम सुनते हो, वह प्रवृत्ति लोकसंग्रह के वास्ते है, कुछ फल के वास्ते नहीं है, क्यों-कि यदि आचार्य ज्ञानी लोग कर्मों को त्याग देवेंगे, तब जगत् की मर्यादा का लोप हो जावेगा। इसमें गीता-वाक्य प्रमाण है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥

ज्ञानी जन जो-जो आचरण करते हैं, इतर अज्ञानी जन भी उसीके अनुसार आचरण करते हैं। जिस वार्ता को श्रेष्ठ पुरुष प्रमाण कर लेते हैं, इतर पुरुष भी उसी के अनुसार चलते हैं। भगवान् कहते हैं कि "हे पार्थ! तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है और कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो पूर्व अप्राप्त होकर पश्चात् प्राप्त होवे, किंतु सर्वदा सब पदार्थ मेरे को प्राप्त ही हैं तथापि मैं लोकमर्यादा के वास्ते कर्मों को करता हूँ।" और आगे फिर भगवान् ने कहा है कि "यदि मैं कर्मों को नहीं करूँगा, तब संपूर्ण मनुष्य कर्मों का त्याग कर देवेंगे और कर्म के लोप होने से यह प्रजा सब नष्ट हो जावेगी।" इसी कारण से जो आचार्य-कोटि में ज्ञानी हैं, वे लोग मर्यादा के अर्थ कर्मों को करते हैं, ज्ञान की सहायता के लिये नहीं करते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान् जो कर्मों को करते थे उनको कौन-सी ज्ञान में सहायता की आवश्यकता थी, किंतु कुछ नहीं थी। और जो ज्ञान में कर्म सहायक होते, तब कावषेयादि ऋषि कर्मों का त्याग क्यों कर देते?

तथा च श्रुतिः—

किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे।

ऋषि कहते हैं कि "हम किस वास्ते अध्ययन करें और किस वास्ते हम यज्ञों को करें।"

तथा च श्रुतिः—

पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहुवांचक्रिरे । एवं चैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥

पूर्व के विद्वान् अग्निहोत्रादिकों को भी न करते थे, किंतु इस आत्मा को जानकर ब्राह्मण लोग पुत्रेच्छा, धनेच्छा और लोकेच्छा को त्यागकर संन्यास को धारणकर भिक्षा-वृत्ति करते थे। ये सब श्रुति-वाक्य ज्ञान में कर्मों की सहायता का निषेध करते हैं। और याज्ञवल्क्य ने भी कर्मों का त्याग करके संन्यास को ग्रहण किया है। यदि कर्म ज्ञान में सहायक होते, तो याज्ञवल्क्य कर्मों का त्याग क्यों करते? और कैकेय राजा का जो तुमने उदाहरण दिया है सो कैकेय राजा सगुण मूर्ति वैश्वानर की उपासना करता था। वह निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं करता था। सो सगुण विद्या में भी कर्मों की सहायता नहीं बनती है, क्योंकि वहाँ पर विद्या का प्रकरण ही नहीं है। और जो श्रुति कहती है कि जो विद्या और कर्म इसके साथ चलते हैं परलोक में वह श्रुति संसारी परक है ब्रह्मवित् परक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मवित् का लोकांतर में गमन नहीं होता है—

न तस्य प्राणा उत्क्रामंत्यत्रैव समवलीयंते।

उस विद्वान् के प्राण लोकांतर में गमन नहीं करते हैं, किंतु प्राण वियोग-काल में ही अपने कारण में लय हो जाते हैं। और जो श्रुति कहती है कि जो विद्या, कर्म इसके पीछे चलते हैं उसका भी विभाग करके अर्थ करना अर्थात् कर्मी के पीछे कर्म चलते हैं। और सगुण उपासक के पीछे सगुण विद्या चलती है। एक ही के साथ दोनों नहीं चलते, क्योंकि उनका भी समुच्चय नहीं हो सकता। जैसे किसी ने कहा कि दो ब्राह्मणों को एकशत मुद्रा दीजिए, तब यह विभाग किया जाता है कि जो एकशत मुद्रा के दो भाग करके अर्थात् पचास एक के प्रति और पचास दूसरे के प्रति दीजिए, वैसे इस श्रुति में भी विभाग कर लेना। इन पूर्वोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि अपने फल के उत्पन्न करने में विद्या स्वतंत्र है। अर्थात् अज्ञान के नाश करने में विद्या कर्मों की सहायता नहीं चाहती, किंतु अपनी उत्पत्ति में कर्मों की सहायता चाहती है।

प्रश्न—अज्ञान की सिद्धि में क्या प्रमाण है? वेद-प्रमाण करके अज्ञान की सिद्धि है या प्रत्यक्षादि प्रमाणों करके अज्ञान की सिद्धि है? यदि वेद करके अज्ञान की सिद्धि कहो, सो नहीं बनती, क्यों-कि पूर्व-कांड तो कर्ममात्र का प्रतिपादक है और उत्तर-कांड वेदांत-भाग, परिपूर्ण सच्चिदानंद-रूप ब्रह्म का प्रतिपादन करता है।

अज्ञान को तो वेद प्रतिपादन करता ही नहीं है। और प्रत्यक्षादि प्रमाणों करके भी अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों करके अज्ञान की सिद्धि होवे, तब अज्ञान में विवाद नहीं होवे।

उत्तर—जिस कारण से अज्ञान में कोई प्रमाण नहीं बनता, इसी कारण से अज्ञान कल्पना करने के योग्य है। क्योंकि असत्य जड़-रूप अनेक प्रकार के दुःखादि-रूप प्रपंच की रचना अज्ञान के बिना असिद्ध होकर अज्ञान की कल्पना कराती है। इस अन्यथाऽनुपपत्ति प्रमाण करके अज्ञान की सिद्धि होती है।

प्रश्न—जैसे कुलाल घट की रचना करने में अज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, किंतु विना ही अज्ञान के घट को उत्पन्न कर देता है, वैसे ईश्वर भी जगत् की रचना में अज्ञान की अपेक्षा के बिना ही जगत् को उत्पन्न कर देगा। फिर अज्ञानकी कल्पना क्यों करनी?

उत्तर—कुलाल का दृष्टांत नहीं बनता; क्योंकि कुलाल मृत्तिका आदिकों के साथ संबंधवाला होकर घटादिकों को उत्पन्न करता है और संबंध से रहित श्रुति ईश्वर को कहती है।

तथा च श्रुतिः—

असंगोऽयं पुरुषः।

यह श्रुति ईश्वर को कार्य-कारण के साथ संबंध से रहित कहती है। इसवास्ते अज्ञान की कल्पना करो।

प्रश्न—जैसे वस्त्र स्वभाव से जल के साथ संबंधवाला है, परंतु जब उस पर मोम का लेप हो जाता है तब वह जल के साथ संबंधवाला नहीं होता। वैसे ईश्वर भी स्वभाव से संबंध-वाला है। उपाधि करके असंग हो जावेगा। तब जगत् की रचना ईश्वर द्वारा विना अज्ञान के ही बन जावेगी।

उत्तर—स्वभाव से ही ईश्वर को श्रुति असंग कथन करती है, उपाधि करके असंगता नहीं बनती, क्योंकि उपाधि कोई अभी सिद्ध नहीं हुई है। इसवास्ते जगत् की रचना की अनुत्पत्ति करके अज्ञान की कल्पना करनी उचित है। जैसे अज्ञात हुई रज्जु अनेकविध माला सूत्रधारादि प्रपंच को रच लेती है, उसी प्रकार असंग ईश्वर भी अज्ञान-वश अनेकविध प्रपंच को रच लेता है, क्योंकि विना अज्ञान के प्रपंच की रचना नहीं बनती।

प्रश्न—अज्ञान एक है या अनेक हैं ?

उत्तर—जैसे एक ही निद्रा-रूपी दोष स्वप्न में अनेकविध कार्यों को रच लेता है वैसे एक ही अज्ञान, नानाविध प्रपंच को रच लेता है। इसवास्ते अज्ञान एक है। और अज्ञान के एक होने से तदव-च्छिन्न जीव भी एक है।

प्रश्न—यदि एक ही जीव मानोगे, तो तुम्हारे मत में बंध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं सिद्ध होगी, क्योंकि आत्मज्ञान से पूर्व (जीवोबद्धः) अर्थात् जीव बंधन में है ऐसा व्यवहार होगा। परंतु आत्मज्ञान से

उत्तरकाल में व्यवहार का कर्ता जीव तो रहा नहीं है, क्योंकि जीव तो तुम्हारे मत में एक ही था, सो तो मुक्त हो गया फिर व्यवहार क्यों होता है। जो जड़भरत वामदेवादि मुक्त हो गए और इस समय में जो इतर जीव हैं, सब बँधे हुए हैं, ऐसा व्यवहार होता है सो न होना चाहिए। क्योंकि तुम्हारे मत में एक ही अज्ञान था, सो तो उस एक जीव के आत्मज्ञान करके नष्ट हो गया और अज्ञान-कृत ही संसार था, अब संसार का भी उच्छेद हो जाना चाहिए। और एक जीववाद अनुभव में भी नहीं आता, किंतु द्वैत ही अनुभव में आता है।

उत्तर—तुमने जो कहा है कि एक जीववाद में अनुभव नहीं बनता, सो इंद्रियों के अभाव होने से अनुभव नहीं बनता? या विषयों के अभाव होने से अनुभव नहीं बनता? यदि कहो, इंद्रियों के अभाव होने से अनुभव नहीं बनता, तो यह प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि अविद्या का कार्य अंतःकरणादिकों की यथा यथा स्वीकारता है। यदि कहो उनके स्वीकार करने में द्वैतापत्ति होगी, सो द्वैतापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उनको आविद्यक स्वीकार किया है अर्थात् अविद्या के कार्य माने हैं। कार्य-कारण का भेद नहीं होता। इसवास्ते आद्य पक्ष तो नहीं बनता। और दूसरा पक्ष विषय के अभाव से अनुभव नहीं बनता। ऐसा कहोगे तब कैसा विषय तुमको अपेक्षित है। व्यवहार के योग्य अर्थात्

व्यवहार-काल में सत्य अथवा परमार्थ सत्य। यदि व्यवहार के योग्य विषय अपेक्षित कहो, सो व्यवहार के योग्य विषय विद्यमान है। यदि परमार्थ सत्य कहो सो नहीं बनता; क्योंकि एक ब्रह्म ही वेद के तात्पर्य का विषय है। बद्ध मुक्तादि भेदरूप प्रपंच की सत्यता कदापि नहीं हो सकती। और जो तुमने शंका की है कि जो एक के मुक्त होने से संसार का अभावप्रसंग हो जावेगा, सो एक जीववादी के प्रति संसार को अर्थात् सर्व प्रपंच को निरूपण ही नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उसके मत में दूसरा है ही नहीं, तब सब संसार का कथन कैसे बनेगा, किंतु नहीं बनेगा।

प्रश्न—वेद का अद्वैत में तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वेद में ही वामदेवादि अनेक ज्ञानी लिखे हैं।

तथा च श्रुतिः—

तद्धै तत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे।

गर्भ में ही वामदेव ने आत्मा को अहं ब्रह्मास्मि करके साक्षात् करते हुए कहा—

अहं मनुरभवं सूर्यश्च।

मैं ही मनु हुआ और मैं ही सूर्य। इस प्रकार वामदेव

अपने को सर्वस्वरूप कथन करता हुआ। ऐसा वेद में जो अर्थ सुना है, सो भेद-कल्पना से विना नहीं बनता।

उत्तर—(तद्वै तत्) यह वाक्य भेद के मिथ्या होने से द्वैत का प्रतिपादक नहीं है, इसवास्ते भेदाकार ज्ञान का अजनक होने से वाक्य का अर्थ भेद परक नहीं है।

प्रश्न—वामदेव के ज्ञान से वामदेव सर्वभाव को प्राप्त हुआ, यह अर्थ तब बनेगा जब वामदेव पद का वाच्य कोई जीव बद्ध है, कोई मुक्त होनेवाला है, ऐसा मुमुक्षु को सम्मत होवे। सो तो एकजीववाद में नहीं है, इसवास्ते तुम्हारे द्वारा कथित अर्थ की अनुत्पत्ति भेद की कल्पना कराती है, जो भेद ही है अभेद नहीं है। अनेक जीव अनुभव करके सिद्ध हैं, एक कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता।

उत्तर—जैसे स्वप्न में एक ही स्वप्न का द्रष्टा सत्य है, और सब प्रपंच उसके अज्ञान द्वारा कल्पित हैं, इसी प्रकार जाग्रत् में भी एक ही जीव परमार्थ सत्य है और संपूर्ण उसीके अज्ञान द्वारा कल्पित हैं।

प्रश्न—जाग्रत् में अनेक जीव प्रतीत होते हैं उनमें से कौन वह जीव परमार्थ सत्य है यह तो निश्चय नहीं है, तब कौन-सा जीव श्रवणादिकों में प्रवृत्त होगा। और जो साधनों में प्रवृत्ति

का अभाव होगा, तब मोक्ष का भी अभाव प्रसंग हो जावेगा।

उत्तर—देह आत्मवाद का आश्रयण करके तुमको भ्रांति हो रही है।

प्रश्न—कैसे भ्रांति हो रही है ?

उत्तर—सुनो, हम पूछते हैं कि स्वप्न में देव मनुष्य गंधर्वादि देह कल्पित हैं या अज्ञानोपाधिक जीव कल्पित हैं। और देहों के कल्पित होने में कोई विरोध नहीं आता। परंतु अज्ञानोपाधिक जीव को कल्पित नहीं कह सकते। क्योंकि अज्ञानोपाधिक का स्वप्न में भेद प्रतीत नहीं होता, किंतु अज्ञानोपाधिक जीव एक ही प्रतीत होता है, तो जाग्रत् में भी एक ही अज्ञानोपाधिक जीव करके अन्य सब कल्पित हैं। तथाच एक ही नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाववाला उपनिषद्-गम्य वास्तव में है सोई एक अज्ञान का आश्रयण करके जीवभाव को प्राप्त होकर देव, तिर्यक् और मनुष्यादि शरीरों की कल्पना करके और देवादि शरीरों की कल्पना करके और ब्रह्मांडादि चतुर्दश भुवनों को रचकर और हिरण्यगर्भ स्रष्टा को और विष्णु पालनकर्ता को और रुद्र संहारकर्ता को और हिरण्यगर्भादिकों की उपाधि जो सत्त्वादि गुण और उन गुणों के वश हिरण्यगर्भादिकों को सब सामर्थ्य रचता भया। वह एक ही अज्ञानोपाधिक जो है वह आप ही भ्रांति को प्राप्त हो जाता भया। मैं अज्ञ हूँ किसी विष्णु आदि

देवता की पूजा करके और श्रवणादि साधन को संपादन करके मोक्ष को सिद्ध करूँगा। ईश्वर होकर भी इस प्रकार भ्रांति को प्राप्त हो जाता है। और अज्ञान के वश करके जाग्रत् अवस्था में प्रपंच की कल्पना करके पुनः और जाग्रत् को उपसंहार करके स्वप्न में निद्रा-दोष की सहकारिता करके तादृश प्रपंच को कल्पना करके उन-उन देह-इंद्रियों करके साध्य जो भोग उनको भोग करके वशिष्ठादि मुक्त हो गए। और इतर सब बद्ध हैं। और मैं भी कोई एक संसारी, बद्ध और मुक्त हो जाऊँगा। इस प्रकार कल्पना करके पश्चात् उस अवस्था का भी संहार करके सब भ्रम की निवृत्तिरूप सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है। इस पूर्वोक्त से यह सिद्ध हुआ कि एक ही आत्मा परिपूर्ण स्वयं प्रकाश आनंद स्वभाववाला अपने अज्ञान से मैं जीव हूँ, मैं संसारी हूँ, इत्यादि शब्दों का वाच्य होता है, उससे भिन्न और कोई संसारी भावना करने को शक्य नहीं है। और उसी वैराग्यादि साधनसंपन्न को शास्त्र आचार्य के उपदेश करके, श्रवणादि साधनों की पाटवता करके, तत्त्वमसि आदि वाक्यों करके तत्त्व साक्षात्कार के उत्पन्न होने पर अज्ञान और उसका कार्य संपूर्ण लय हो जाता है। पश्चात् अपने आनंद करके तृप्त हुआ, अपनी महिमा में स्थित हुआ, मुक्त व्यवहार को भजता है। हे शिष्य! एक जीववाद ही मुख्य वेदांत का सिद्धांत है, इसी को तुम निश्चय करो। और सब

अनात्म झगड़ों का त्याग करो। अपने आनंद चैतन्यस्वरूप में स्थित हो जाओ।

सोरठा

परमानंद जिनाहिं, रहे गंग के तीर पर।
अस्सी संगम माहिं, कियो ग्रंथ परकाश यह ॥ १ ॥

दोहा

संवत इक अरु नव पुन, पाँचहि सुन पुन आन।
भादों शुद्ध पंचदशि, ग्रंथ पूर्ण यह जान ॥ २ ॥

श्रीउदासीनवर्य श्रीमदमरदासशिष्य परमानंदविरचित
भ्रमनाशक ग्रंथ समाप्त।
शुभम्।